'अज्ञेय'

पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, जन्म कसिया, ७ मार्च १९११, शिक्षा मद्रास और लाहौर मे पायी। 'दिल्ली षडयन्त्र केस' और अन्य अभियोगो के कारण १९३०-१९३४ जेल मे और लाहौर किले मे बन्दी रहे, फिर दो वर्ष नजरबन्द। 'सैनिक', 'आरती', 'विशाल भारत', 'प्रतीक' का सम्पादन कर चुके है। सेना मे भरती होकर १९४३-१९४६ आसाम मोर्चे पर और फिर पजाब-सीमाप्रान्त मे रहे।

'शेखर' पर बटुक प्रसाद पुरस्कार और सुधाकर पदक दिया गया था।

प्रकाशित रचनाएँ, 'भग्नदूत' (कविता) १९३३, 'विपथगा' (कहानिया) १९३७, 'शेखर एक जीवनी' (उपन्यास) प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, 'कोठरी की बात, (कहानियाँ) १९४५, 'त्रिशकु' (निबन्ध) १९४५, 'इत्यलम्, (कविता) १९४६, 'शरणार्थी' (कविता कहानियाँ) १९४८, 'हरी घास पर क्षण भर' (कविता) १९४९, 'जय दोल' (कहानियाँ) १९५१, 'अरे यायावर रहेगा याद?' (भ्रमण) १९५३। अग्रेजी मे 'प्रिजन डेज़ एड अदर पोएम्स' १९४६। नदी के द्वीप (उपन्यास) चिन्ता (कविता)

सम्पादित ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (निबन्ध-सग्रह), १९४३, 'तार सप्तक' (कविता-सग्रह) १९४३, 'दूसरा सप्तक' (कविता-सग्रह) १९५१, सयुक्त रूप से, 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' १९४९। अग्रेजी मे 'इडिया लायब्रेरी' के अन्तगत 'श्रीकान्त' (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुवाद) १९४४, 'द रेजिग्नेशन' (जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' का अनुवाद) १९४६।

अमर वल्लरी
और
अन्य कहानियाँ
अज्ञेय

बहिन इन्दु को

इस संग्रह की अधिकतर कहानियाँ पहले विपथगा न
के कहानी-संग्रह में छपी थीं। उसका—और अन्य कहानी संग्र
का—पुन: मुद्रण नहीं किया जा रहा है अज्ञेय की सम्पूर्ण क
नियों का वृहत संग्रह क्रमश खंडों में प्रकाशित होगा।

एक कहानी गृह त्याग पहले कोठरी की बात नामक स
में छपी थी।

कहानियों में जहाँ-तहाँ कुछ परिवर्तन किया गया है और
भूलें सुधार दी गयी हैं।

सूची

अमरवल्लरी
और अन्य कहानियाँ

अमरवल्लरी

An aristocrat must do without close personal love
H G wells

मै दीर्घायु हूँ, चिरजीवी हूँ, पर यह बेल, जिस के पाश मे मेरा शरीर, मेरा अग-अग बँधा हुआ है, यह वल्लरी क्षयहीन है, अमर है।

मै न-जाने कब से यही खडा हूँ—अचल, निर्विकार, निरीह खडा हूँ। न-जाने कितनी बार शिशिर ऋतु मे मैंने अपनी पर्णहीन अनाच्छादित शाखाओ से कुहरे की कठोरता को फोड कर अपने नियन्ता से मूक प्रार्थना की है, न-जाने कितनी बार ग्रीष्म मे मेरी जडो के सूख जाने से तृषित सहस्रो पत्र रूप चक्षुओ से मै आकाश की ओर देखा किया हूँ, न-जाने कितनी बार हेमन्त के आने पर शिशिर के भावी कष्टो की चिन्ता से मै पीला पड गया हूँ, न-जाने कितनी बार वसन्त, उस आह्लादक, उन्मादक वसन्त में, नीबू के परिमल से सुरभित समीर मे मुझे रोमाच हुआ है और लोमवत् मेरे पत्तो ने कम्पित होकर स्फीत सरसर ध्वनि कर के अपना हर्ष प्रकट किया है। इधर कुछ दिनो से मेरा शरीर क्षीण हो गया है, मेरी त्वचा में झुर्रियाँ पड गयी है, और शारीरिक अनुभूतियो के प्रति मैं उदासीन हो गया हूँ। मेरे पत्ते झड गये है, ग्रीष्म और शिशिर दोनो ही को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता हुँ। किन्तु वसन्त! न-जाने उस के ध्यान में ही कौन-सा जादू है, उस की स्मृतिमात्र में कौन-सी शक्ति है, कि मेरी इन सिकुडी हुई धमनियो मे भी नये सजीवन का सचार होने लगता है, और साथ ही एक लालसामय अनुताप मेरी नस नस मे फैल जाता है

वसन्त उस की स्मृतियो मे सुख है और कसक भी। जब मेरे चारो ओर क्षितिज तक विस्तृत उन अलसी और पोस्त के फूलो के खेत एक रात-भर ही मे विकसित हो उठते थे, जब मै अपने आप को सहसा एक सुमन-समुद्र के बीच में खडा हुआ पाता था, तब मुझे ऐसा भास होता था, मानो एक हरित सागर की नीलिमामय लहरो को वसन्त के अशुमाली की रश्मियो ने आरक्त कर दिया हो। मेरा हृदय आनन्द और कृतज्ञता से भर जाता था। पर उस

कृतज्ञता में सन्तोष नही होता था, उस आनन्द से मेरे हृदय की व्यथा दबती नही थी । मुझे उस सौन्दर्यच्छटा मे पड कर एकाएक अपनी कुरूपता की याद आ जाती थी, एक जलन मेरी शान्ति को उडा देती थी

कल्पना की जड मन की व्यथा मे होती है । जब मुझे अपनी कुरूपता के प्रति ग्लानि होती, तब मै एक ससार की रचना करने लगता—ऐसे ससार की, जिस मे पीपल के वृक्षो मे भी फूल लगते है ..और एक रग के नही, अनेक रगो के, जिस मे शाखे जगमगा उठे ! एक शाखा मे सहस्रदल शोण-कमल, दूसरी पर कुमुद, तीसरी पर नील-नलिन, चौथी पर चम्पक, पाँचवी पर गुलाब, और सब ओर, फुनगियो तक पर, नाना रगो के अन्य पुष्प—कैसी सुखद थी वह कल्पना ! पर अब उस कल्पना की स्मृति से क्या लाभ है ? अब तो मै बूढा हो गया हूँ, और रक्तबीज की तरह अक्षय यह बेल मुझ पर पूरा अधिकार जमा चुकी है । मै विराट् हूँ, अचल हूँ, किन्तु मेरी महत्ता और अचलता ने ही मुझे इस अमरवल्लरी के सूक्ष्म, चचल तन्तुओ के आगे इतना निस्सहाय बना दिया ! किसी दिन वह कृशतनु, पददलिता थी, और आज यह मुझे बाँध कर, घोट कर, झुका कर, अपनी विजय-कामना पूरी करने की ओर प्रवृत्त हो रही है !

कैसे सुदृढ है इस के बन्धन ! कितने दारुण, कितने उग्र ! लालसा की तरह अदम्य, पीडा की तरह असह्य, दावानल की तरह उत्तप्त, ये बन्धन मेरे निर्बल शरीर को घोट कर उस की स्फूर्ति और सजीवन को निकाल देना चाहते है । और मै, निराश और मुमूर्षु मै, स्मृतियो के बोझ से दिक्पालो की तरह दबा हुआ मै, चुपचाप उस की कामना के आगे धीरे-धीरे अपना अस्तित्त्व मिटा रहा हूँ ..

फिर भी कभी-कभी...ऐसा अनुभव होता है कि इस वल्लरी के स्पर्श में कोई लोमहर्षक तत्त्व है ..जिस प्रकार कोई पुरानी, विस्मृत तान सगीतकार के स्पर्श-मात्र से सजग, सजीव हो उठती है, जिस प्रकार बूढा, शुभ्रकेश, मृयमाण शिशिर, वसन्त का सहारा पा कर क्षण भर के लिए दीप्त हो उठता है, जिस प्रकार तरुणी के अन्ध-विश्वास पूर्ण, कोमल, स्निग्ध प्रेम मे पड़ कर

बूढ़े के हृदय मे गुदगुदी होने लगती है, नयी कामनाएं उदित हो जाती है—उसी प्रकार मेरे शरीर मे, मेरी शाखाओ मे, मेरे पत्तो मे, मेरे रोम-रोम मे इस का विलुसित स्पर्श, एक स्नेहमय जलन का, एक दीप्तिमय लालसा का, एक अननुभूत, अकथ, अविश्लिष्ट, उन्मत्त प्रेमोल्लास का सचार कर देती है ! मै सोचने लगता हूँ कि अगर मेरी शाखे भी उतनी ही लचकदार होती, जितनी इस अमर बेल की है, तो मै स्वय उस के आश्लेषण को दृढतर कर देता, उस के बन्धन को स्वय कस देता ! पर विश्वकर्मा ने मुझे ऐसा निकम्मा बना दिया—मै प्रेम पा सकता हूँ, दे नही सकता, प्रेम-पाश मे बँध सकता हूँ, बाँध नही सकता, प्रेम की प्रस्फुटन-चेष्टा समझ सकता हूँ, व्यक्त नही कर सकता ! जब प्रेम-रस मे मै विमुग्ध हो कर अपने हृदय के भाव व्यक्त करने की चेष्टा करता हूँ, तब सहसा मुझे अपनी स्थूलता, अचलता का ज्ञान होता है, और मेरी वे चिर-विचारित, चिर-निर्दिष्ट, अदमनीय चेष्टाएँ जड हो जाती है; मेरे सभ्रम का एकमात्र चिह्न वह पत्तो का कम्पन, मेरी आकुलता की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन उन का कोमल सरसर शब्द ही रह जाता है । इतना भीमकाय हो कर भी एक लतिका के आगे मै कितना निस्सहाय हूँ !

वसन्त, सुमन, पराग, समीर, रसोल्लास. .कैसा सयोग होता है ! पर अब, अपने जीवन के हेमन्त-काल मे, क्यो मै वसन्त की कल्पना करता हूँ ? अब वे सब मेरे जीवन मे नही आ सकते, अब मै एक और ही ससार का वासी हो गया हूँ, जिस मे सुमन नही प्रस्फुटित होते, स्मृतियाँ जागती है, जिस मे मदालस नही, विरक्ति-शैथिल्य भरा हुआ है ! मेरे चारो ओर अब भी वसन्त मे अलसी और पोस्त के फूल खिलते है, हँसते है, नाचते है, फिर चले जाते है । मेरा हृदय उमड आता है, पर उस मे अनुरक्ति नही होती, उस रूप-सागर के मध्य मे खड़ा हो कर भी मै अपनी सुदूरता का ही अनुभव करता हूँ, मानो आकाश-गगा का ध्यान कर रहा होऊँ ! जिस सृष्टि से मैं अलग हो गया हूँ, उसकी कामना मै नही करता, उस मे भाग लेने की लालसा मेरे हृदय मे नही होती । मेरा स्थान एक दूसरे ही युग मे है, और उसी का प्रत्यावलोकन मेरा आधार है, उसी की स्मृतियाँ मेरा पोषण करती है ।

यह वल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मै गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उसमे बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी।

पर जब इस का अकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मै क्षीण नही था। मेरे सुगठित शरीर मे ताजा रस नाचता था, मेरा हृदय [illegible] मे लवलीन हो कर नाचता था, मै स्वय यौवन रग मे प्रमत्त होकर नाच रहा था .जब मेरी विस्तृत जडो के बीच में कही से इसका छोटा-सा अकुर निकला, उस के पीले-पीले, कोमल, तरल तन्तु इधर-उधर सहारे की आशा से फैले और कुछ न पा कर मुरझाने लगे, तब मैने कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी, कितना आनन्द मुझे इस के शिशुवत् कोमल प्रथम स्पर्श से हुआ था! उस समय शायद वात्सल्य-भाव ही मेरे हृदय मे सर्वोपरि था, जब वह बढने लगी, जब उस के शरीर मे एक नयी आभा आ गयी, तब उस के स्पर्श मे वह सरलता, वह स्नेह नही रहा, उस मे एक नूतनता आविर्भूत हुई, एक विचित्र भाव आ गया, जिस में मेरी स्वतन्त्रता नही रही। जब भी मै कुछ सोचना चाहता, उसी का ध्यान आ जाता। उस ध्यान मे लालसा थी, और साथ ही कुछ लज्जा-सी; स्वार्थ था और साथ ही उत्सर्ग हो जाने की इच्छा, तृष्णा थी और साथ ही तृप्ति भी, ग्लानि थी और साथ ही अनुरक्ति भी! जिस भाव को आज मै पूरी तरह समझ गया हूँ, उस का मुझे उन दिनो आभास भी नही हुआ था। उन दिनो इस परिवर्तन पर मुझे विस्मय ही होता रहता था—और वह विस्मय भी आनन्द से, ग्लानि से, लालसा से, तृप्ति से, परिपूरित रहता था!

मेरे चरणो के पास एक छोटा-सा चिकना पत्थर पडा हुआ था, जिस में गाँव की स्त्रियाँ आ कर सिन्दूर और तेल का लेप किया करती थी। कभी-कभी वे अपने कोमल हाथो से सिन्दूर का एक लम्बा-सा टीका मेरे ऊपर लगा देती थी, कोई-कोई युवती आ कर सहज स्वभाव से मेरे दोनो ओर बाँहे फैला कर मेरे इस कुडौल शरीर से अक भर लेती थी, कोई-कोई मेरा गाढालिगन कर के अपने कपोल मेरी कठिन त्वचा से छुआ कर कुछ देर चुपचाप आँसू बहा कर चली जाती थी—मानो उसे कुछ सान्त्वना मिल गयी हो। पर मानव-ससार की उन सुकोमल लतिकाओ के स्पर्श मे, उन के परिष्वग मे, मुझे आसक्ति

नही थी । कभी-कभी, जब कोई सरला अभागिनी मुझे अपनी बाँहो से घेर कर दीन स्वर से कहती, "देवता, मेरी इच्छा कब पूरी होगी ?" तब मै दयार्द्र हो जाता, और अपने पत्ते हिला कर कुछ कहना चाहता । न-जाने वे मेरा इगित समझती या नही । न-जाने उन्हे कभी मेरी कृतज्ञता का ज्ञान होता या नही । मै यही सोचता रहता कि अगर मै नीरस पीपल न हो कर अशोक वृक्ष होता, तो अपनी कृतज्ञता तो जता सकता, उन प्रेम-विह्वलाओ के स्पर्श से पुष्पित हो पुष्प-भार से झुक कर उन्हें नमस्कार तो कर सकता ! पर मैं यह सोचता हुआ मूक ही रह जाता, और वे चली जाती !

पर उन के स्पर्श से मुझे रोमाच नही होता था, मै अपने शिखर से जडो तक कॉपने नही लगता था । कभी-कभी, जब कोई स्त्री आ कर मेरी आश्रिता इस अमरवल्लरी के पुष्प तोड कर मेरे पैरो मे डाल देती, तब मेरे मर्म पर आघात पहुँचता था, पर उस से मुझे जितनी व्यथा होती, जितना क्रोध आता, उसे भी मै व्यक्त नही कर पाता था । मै विश्वकर्मा से मूक प्रार्थना करने लगता—विश्वकर्मा मूक प्रार्थना भी सुन लेते है—कि उस स्त्री को कोई भी वैसी ही दारुण वेदना हो ! वह मुझे देवता मान कर पुष्पो से पूजा करती थी, और मै उस के प्रति इतनी नीच कामना करता था—किन्तु प्रेम के प्रमाद मे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है !

कैसा विचित्र था वह प्रेम ! अगर मै जानता होता ! अगर मै जानता होता !

किन्तु क्या जान कर इस जाल मे न फँसता ? आज मै जानता हूँ, फिर भी तो इस वल्लरी का मुझ पर इतना अधिकार है, फिर भी तो मै इसके स्पर्श से गद्‌गद हो उठता हूँ !

प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमे अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खडित हो जाता है, तब जुडता नही । अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उस के भग्नावशिष्ट खडो को जोड कर रख भी ले, तो उस में पुरानी कान्ति नही आती । वह सदा के लिए कलकित हो जाता है, स्नेह अनेको चोटें सहता है, कुचला जा कर भी पुनः उठ खडा

होता है, किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है, वह एक बार तिरस्कृत हो कर सदा के लिए विमुख हो जाता है। आज इस वल्लरी के प्रति मेरा अनुराग बहुत है, पर उसमे प्रेम का नाम भी नही है—वह स्नेह का ही प्रतिरूप है। वह विह्वलता प्रेम नही है, वह प्रेम की स्मृति की कसक ही है।

अपने इस प्रेम के अभिनय का जब मै प्रत्यावलोकन करता हूँ, तब मुझे एक जलन-सी होती है। प्रेम से मुझे जो आशा थी, वह पूर्ण नही हुई, और उसकी अपूर्त्ति के लिये मै किसी प्रकार भी दोषी नही था। मुझे यही प्रतीत होता है कि नियन्ता ने मेरे प्रति, और इस लता के प्रति, और उन अबोध स्त्रियो के प्रति जो मुझे देवता कह कर सम्बोधित करती थी, न्याय नही किया। निर्दोष होते हुए भी हम अपने किसी अधिकार से, जिसका मै वर्णन नही कर सकता, वचित रह गये। जब इस भाव से, इस प्रवचना के ज्ञान से, मै उद्विग्न हो जाता हूँ, तब मुझे इच्छा होती है कि मै वृक्ष न हो कर मानव होता। इस तरह एक ही स्थान में बद्ध हो कर न रहता, इधर-उधर घूम कर अपने प्रेम को व्यक्त कर सकता, और—और इस तरह भुजहीन, असहाय न होता!

किन्तु क्या मानव-हृदय मेरी सज्ञा से इतना भिन्न है? क्या मानवों के प्रेम मे और मेरे मे इतनी असमानता है? क्या मानव मे भी हमारी तरह मूक वेदनाये नही होती, क्या उनमे भी प्रेम के अकुर का अँधेरे में ही प्रस्फुटन और विकसन और अवसान नही हो जाता? क्या वे प्रेम-विह्वल हो कर अपने-आप को अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य नही पाते, क्या उनमे लज्जा अनुरक्ति का और ग्लानि लालसा का अनुगमन नही करती? वे मानव हैं, हम वनस्पति, वे चलायमान है, हम स्थिर; पर साथ ही हम उनकी अपेक्षा बहुत दीर्घजीवी है, और हमारी सयम-शक्ति भी उन से बहुत अधिक बढी-चढी है। उन का प्रेम सफल होकर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है, और हम में प्रेम की जलन ही कितने वर्षो तक कसकती रहती है।

बहुत दिनो की बात है। उन दिनो मुझे इस वल्लरी के स्पर्श मे मादकता का भास हुआ ही था, इस के आलिगन से गुदगुदी होनी आरम्भ ही हुई थी! उन दिनो मैं उस नये प्रेम का विकास देखने और समझने मे ही इतना व्यस्त

था कि आसपास होने वाली घटनाओं में मेरी आसक्ति बिल्कुल नहीं थी, कभी-कभी विमनस्क हो कर मैं उन्हें एक आँख देख भर लेता था। वह जो बात मैं कहने लगा हूँ, उसे मैं नित्यप्रति देखा करता था, किन्तु देखते हुए भी नहीं देखता था। और जब वह बात खत्म हो गयी, तब उस की ओर मेरा उतना ध्यान भी नहीं रहा। पर मेरे जाने बिना ही वह मुझ पर अपनी छाप छोड़ गयी, और आज मुझे वह बात नहीं, उस बात की छाप ही दीख रही है। मैं मानो प्रभात में बालुकामय भूमि पर अंकित पदचिन्हों को देख कर, निशीथ की नीरवता में उधर से गयी हुई किसी अभिसारिका की कल्पना कर रहा हूँ!

मेरे चरणों पर पड़े हुए उस पत्थर की पूजा करने जो स्त्रियाँ आती थीं, उन में कभी-कभी कोई नयी मूर्त्ति आ जाती थी, और कुछ दिन आती रहने के बाद लुप्त हो जाती थी। ये नयी मूर्त्तियाँ प्रायः बहुत ही लज्जाशीला होतीं, प्रायः उन के मुख फुलकारी के लाल और पीले अवगुंठन से ढके रहते, और वे धोती इतनी नीची बाँधती कि उन के पैरों के नूपुर भी न दीख पाते! केवल मेरे समीप आकर जब वे प्रणाम करने को झुकतीं, तब उनका गोधूम वर्ण मुख क्षण भर के लिए अनाच्छादित हो जाता, क्षण भर उनके मस्तक का सिन्दूर कृष्ण मेघों में दामिनी की तरह चमक जाता, क्षण भर के लिए उन के उर पर विलुलित हारावली मुझे दीख जाती, क्षण भर के लिए पैरों की किंकिणियाँ उद्घाटित हो कर चुप हो जातीं और मुग्ध हो कर बाह्य-संसार की छटा को और अपनी स्वामिनियों के सौन्दर्य को निरखने लगतीं! फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो जाता, अवगुंठन उन मुखों पर अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए उन्हें छिपा कर रख लेते, हारावलियाँ उन स्निग्ध उरों में छिप कर सो जातीं, और नूपुर भी मुँह छिपा कर धीरे-धीरे हँसने लगते...

एक बार उन नयी मूर्त्तियों में एक ऐसी मूर्त्ति आयी, जो अन्य सभी से भिन्न थी। वह सब की आँख बचा कर मेरे पास आती और शीघ्रता से प्रणाम कर के चली जाती, मानो डरती हो कि कोई उसे देख न ले। उस के पैरों में नूपुर नहीं बजते थे, गले में हारावली नहीं होती थी, मुख पर अवगुंठन नहीं होता था, ललाट पर सिन्दूर-तिलक नहीं होता था। अन्य स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्रा-

भूषण पहन कर आती थीं, वह शुभ्रवसना थी। अन्य स्त्रियाँ प्रातःकाल आती थीं; पर उसका कोई निर्दिष्ट समय नहीं था। कभी प्रातःकाल, कभी दिन में, कभी सन्ध्या को वह आती थी...जिस दिन उस का आना सन्ध्या को होता था, उस दिन वह प्रणाम और प्रदक्षिणा कर लेने के बाद मेरे पास ही इस अमरवल्लरी का सहारा ले कर भूमि पर बैठ जाती, और बहुत देर तक अपने सामने सूर्यास्त के चित्र-विचित्र मेघ-समूहों को, अलसी और पोस्त के पुष्पमय खेतों को, और गाँव से आनेवाले छोटे-से धूल-भरे पथ को देखती रहती...उस के मुख पर अतीत स्मृति-जनित वेदना का भाव व्यक्त हो जाता, कभी-कभी वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ देती...उस समय सहानुभूति और समवेदना में पत्ते भी सरसर ध्वनि कर उठते...वह कभी कुछ कहती नहीं थी, कभी कोई प्रार्थना नहीं करती थी। मुझे चुपचाप प्रणाम करती और चली जाती—या वहीं बैठ कर किसी के ध्यान में लीन हो जाती थी। उस ध्यान में कभी-कभी वह कुछ गुनगुनाती थी, पर उस का स्वर इतना अस्पष्ट होता था कि मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता था।

पहले मेरा ध्यान उसकी ओर नहीं जाता था; किन्तु जब वह नित्य ही गोधूलि-बेला में वहाँ आ कर बैठने लगी, तब धीरे-धीरे मैं उस की ओर आकृष्ट होने लगा। जब सूर्य की प्रखरता कम होने लगती, तब मैं उस की प्रतीक्षा करने लग जाता था—कभी अगर उस के आने में विलम्ब हो जाता, तो मैं कुछ उद्विग्न-सा हो उठता...

एक दिन वह नहीं आयी। उस दिन मैं बहुत देर तक उस की प्रतीक्षा करता रहा। सूर्यास्त हुआ, अँधेरा हुआ, तारे निकल आये, आकाश-गंगा ने गगन को विदीर्ण कर दिया, पर वह नहीं आयी।

उस के दूसरे दिन भी नहीं, तीसरे दिन भी नहीं—बहुत दिनों तक नहीं। तब मैंने उसकी प्रतीक्षा करनी छोड़ दी, तब सन्ध्या के एकान्त में मैं अपनी उद्-भ्रान्त मनोगति को इस अमरवल्लरी की ओर ही प्रवृत्त करने लगा...

जब मैं उसे बिल्कुल भूल गया, तब एक दिन वह सहसा आ गयी। वह दिन मुझे भली प्रकार याद है। उस दिन आँधी चल रही थी, काले-काले बादल

घिर आये थे, ठंड खूब हो रही थी। मैं सोच रहा था कि वर्षा आयेगी, तो अमरवल्लरी की रक्षा कैसे करूँगा। एकाएक मैंने देखा, उस धूलधूसर पथ पर वह चली आ रही थी! वह अब भी पहले की भाँति अनलकृत थी, उस का शरीर अब भी श्वेत वस्त्रो से आच्छादित था, पर उसकी आकृति बदल गयी थी, उस का सौन्दर्य लुप्त हो गया था। उस के शरीर मे काठिन्य आ गया था, मुख पर झुर्रियाँ पड गयी थी, आँखे धँस गयी थी, ओठ ढीले होकर नीचे लटक गये थे। जब उस पहली मूर्त्ति से मैंने उस की तुलना की, तो मेरा अन्तस्तल काँप गया। पर मै चुपचाप प्रतीक्षा मे खडा रहा। उसने मेरे पास आकर मुझे प्रणाम नही किया, न इस वल्लरी का सहारा ले कर बैठी ही। उसने एक बार चारो ओर देखा, फिर बाँहे फैला कर मुझ से लिपट गयी और फूट-फूटकर रोने लगी। उस के तप्त आँसू मेरी त्वचा को सीचने लगे . .

मैंने देखा, वह एकवसना थी, और वह वस्त्र भी फटा हुआ था। उस के केश व्यस्त हो रहे थे, शरीर धूल से भरा हुआ था, पैरो से रक्त बह रहा था. . .

वह रोते-रोते कुछ बोलने भी लगी ..

"देवता, मै पहले ही परित्यक्ता थी, पर मेरी बुद्धि खो गयी थी! मै जहाँ गयी, वही तिरस्कार पाया, पर फिर भी तुम्हारी शरण छोड गयी! मै कृतघ्ना थी, चली गयी। किस आशा से? प्रेम—धोखा—प्रवचना! प्रतारणा! उस छली ने मुझे ठग लिया, फिर—फिर—देवता, मै पतिता, भ्रष्टा, कलकिनी हूँ। मुझे गाँव के लोगो ने मार कर निकाल दिया, अब मै—मै निर्लज्जा हूँ! अब तुम्हारी शरण आयी हूँ, अकेली नही, कलंक के भार से दबी हुई, अपनी कोख मे कलक धारण किये हुए!"

उस का वह रुदन असह्य था, पर हम को विश्वकर्मा ने चुपचाप सभी कुछ सहने को बनाया है!

मुझ पर उस का पाश शिथिल हो गया, उस के हाथ फिसलने लगे, पर उस की मूर्छा दूर न हुई। रात बहुत बीत गयी, उस का सज्ञा-शून्य शरीर काँपने लगा, फिर अकड गया ..वह मूर्छा मे ही फिर बडबडाने लगी:

"देवता हो? छली! कितना धोखा, कितनी नीचता! प्रेम की बाते

करते तुम्हारी जीभ न जल गयी ! तुम्हारी शरण आऊँगी, तुम्हारी ! वह कलक का टीका नही है, मेरा पुत्र है ! तुम नोच थे, तुमने मुझे अलग कर दिया। वह मेरा है, तुम्हारे पाप से क्यो कलकित हो गया ? तुम देवता हो देवता। मै तुम्हारी शरण से भाग गयी थी। पर वह पाप—उस मे तो मेरा भी हाथ था ? तुम्हारी शरण मे मुझे शान्ति मिलेगी ! मै ही तो उस के पास गयी थी—कलकिनी ! पर वह अबोध शिशु तो निर्दोष है, वह क्यो जलेगा ? क्यो काला होगा ? देवता, तुम बडे निर्दय हो। उसे छोड देना ! मै मरूँगी, जलूँगी, पर वह बच कर कहाँ जायगा ! देवता, देवता, तुम उसका पोषण करना !"

उस के शरीर का कम्पन बन्द हो गया प्रलाप भी शान्त हो गया—पर कुछ ही देर के लिए !

धीरे-धीरे तारागण का लोप हो गया, आकाश-गगा भी छिप गयी। केवल पूर्व मे एक प्रोज्ज्वल तारा जगमगाता रह गया। पवन की शीतलता एकाएक बढ गयी, अन्धकार भी प्रगाढतर हो गया उस महाशान्ति में एकाएक उस के शरीर मे सजीवन आ गया, वह एक हृदय-विदारक चीख मार कर उठी, उठते ही उसने अपने एकमात्र वस्त्र को फाड डाला। फिर वह गिर गयी, उस के अगो के उत्क्षेप बन्द हो गये, उस का शरीर शिथिल, निस्पन्द हो गया . .

जब सूर्य का प्रकाश हुआ, तब मैने देखा, वह मेरे चरणो मे पडी है, उस का [illegible] गया था, और उस के अग नीले पड गये थे . उस के पास हो उस का फटा हुआ एक मात्र वस्त्र रक्त से भीगा हुआ पडा था—और उसके ऊपर एक मलिन, दुर्गन्धिमय मासपिड . और वर्षा के प्रवाह मे वह रक्त धुल कर, बह कर, बहुत दूर तक फैल कर कीचड को लाल कर रहा था

कैसी भैरव थी वह आहुति !

क्या यही है मानवो का प्रेम ?

शायद मेरी धारणा गलत है। शायद मेरे अपने प्रेम की उच्छृखलता ने मेरी कल्पना को भी उद्भ्रान्त कर दिया है। मानव अल्पायु होकर भी

इतने नीच हो सकते है, इसका सहसा विश्वास नही होता ! पर जब मुझे ध्यान हो आता है कि मेरी जडे दो ऐसी बलियो के रक्त से सिक्त है, जिनके अन्त का एकमात्र कारण यही था जिसे वे मानव-प्रेम कहते है, तब मुझे मानवता के प्रति ग्लानि होने लगती है । पर उन दोनो का बलिदान प्रेम की वेदी पर हुआ था, या इन मानवो के समाज की, या वासना की ? वह स्त्री तो वचिता थी, उसने तो प्रेम के उत्तर मे वासना ही पायी थी । पर उसका अपना प्रेम तो दूषित नही था, वह तो वासना की दासी नही थी । और समाज—समाज ने तो पहले ही उसे ठुकरा दिया था समाज ने तो उस से कोई सम्बन्ध नही रखा था । और उस अजात शिशु ने समाज का क्या बिगाडा था, वह वासना मे कब पडा था ?

मेरे नीचे उस पत्थर की पूजा करने कितनी ही स्त्रियाँ आती थी, वे तो सभी प्रसन्नवदना होती थी, उन की बात मै क्यो सोचता ? मानव-प्रेम की असफलता का एक यही उदाहरण मैने देखा था, उसी पर क्यो अपना चित्त स्थिर किये हूँ ? वे जो इतनी आच्छादित अवगुठित, अलकृत चपलाएँ वहाँ आती थी और सहज स्वभाव से या कभी-कभी सम्भ्रम से मेरे सिन्दूर-तिलक लगाती और मेरा आलिगन कर लेती थी उन के प्रणय तो सभी सुखमय होते होगे, उन का प्रेम तो इतना विमूढ और विवेकहीन नही होता होगा ? और फिर मानवो का तो प्रेम के विषय मे आत्म-निर्णय करने का अधिकार होता है ? उन के जीवन मे तो ऐसा नही होता कि विधाता—या मनुष्य ही—जिस वल्लरी को उन के निकट अकुरित कर दे, उसी से प्रणय करने को बाध्य हो जाना पडे ?

पर मैने सुना है—गाँव से पूजा के लिए आने वाली उन स्त्रियों के मुख से ही सुना है—कि उन के समाज मे भी इस प्रकार के अनिच्छित बन्धन होते है । एक बार मैने देखा भी था—देखा तो नही था, किन्तु कुछ ऐसे दृश्य देखे थे जिस से मुझे इस की अनुभूति हुई थी .

कभी-कभी, सध्या के पक्षिरव-कूजित एकान्त मे, मुझे एकाएक इस बात का उद्बोधन होता है कि मेरा जीवन—इतना लम्बा जीवन !—व्यर्थ बीत

गया इस वल्लरी के अनिच्छित बन्धन से—पर जो मुझे पागल कर देता है, मेरे हृदय मे उथल-पुथल मचा देता है, मेरे शरीर को हर्ष और व्यथा से विह्वल कर देता है, जिस से छूट जाने की मै कल्पना भी नही कर सकता, उस बन्धन को अनिच्छित कैसे कहूँ ? इस उद्बोधन की उग्रता को मिटाने के लिए मै कितना प्रयत्न करता हूँ, पर वह जाती नही. मेरे हृदय मे यह निरर्थकता का ज्ञान, यह जीने की इच्छा, यह सचित शक्ति का व्यय करने की कामना, किसी और भाव के लिए स्थान ही नही छोडती ! मै चाहता हूँ, अपने व्यक्तित्व को प्रकृति की विशालता मे मिटा दूँ, इस निरर्थकता के ज्ञान को दबा दूँ और जैसा कभी अपने यौवन काल मे था, वैसा ही फिर से हो जाऊँ, पर कहाँ एक बूढे वृक्ष की चाह और कहाँ विधाता का अमिट निर्देश ! मै बोलना चाहता हूँ—मेरे जिह्वा नही है; हिलना चाहता हूँ—मेरे पैर नही है; रोना चाहता हूँ—पर उस के लिए आँखे ही नही है तो आँसू कहाँ से आयेगे . .मै चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ—इतना विशाल, इतना अचल, इतना चिरस्थायी प्रेम कि ससार उस से भर जाये; पर मेरी अपनी विशालता, मेरी अपनी अचलता, मेरा अपना स्थायित्व इस कामना मे बाधा डालता है ! मै प्रेम की अभिव्यक्ति कर नही सकता, और जब करना चाहता हूँ, तब लज्जित हो जाता हूँ . जितना विशाल मै हूँ, इतनी विशाल धुरा अपने प्रेम के लिए कहाँ पाऊँ ? और किसी अकिंचन वस्तु से प्रेम करना प्रेम की अवहेला है . .

यह अमरवल्लरी—इस मे स्थायित्व है, दृढता है, पर यह चचला भी है, और इसमे विशालता भी नही है—यह तो मेरे ही शरीर के रस से पुष्ट होती है !

एक स्मृति-सी मेरे अन्त स्थल मे घूम रही है, पर सामने नही आती, मुझे उस की उपस्थिति का आभास ही होता है। जिस प्रकार कुहरे में जलता हुआ दीपक नही दीख पडता, पर उस से आलोकित तुषारपुज दीखता रहता है, उसी तरह स्मृति स्वय नही प्रकट होती, परन्तु स्मृति मेरे अन्त स्थल में काँप रही है।

उस स्मृति का सम्बन्ध इसी प्रेम की विशालता से था, इतना मै जानता हूँ; पर क्या सम्बन्ध था, नही याद आता

एक और घटना याद आती है, जिसने किसी समय एकाएक विद्युत् की तरह मेरे हृदय को आलोकित कर दिया था—पर इतने प्रदीप्त आलोक से कि मैं बहुत देर के लिए चकाचौंध हो गया था

उन दिनो मेरी पूजा—या मेरे चरणस्थित देवता की पूजा—नही होती थी। जब से वहाँ रक्त-प्रलिप्त देह और मासपिंड पाया गया, तव से लोग शायद मुझसे डरने लगे थे। कभी-कभी सन्ध्या को जब कोई बटोही उधर से निकलता था, तब एक बार सम्भ्रम से मेरी ओर देख कर जल्दी-जल्दी चलने लग जाता था। दिन मे कभी-कभी लडके उस धूल-भरे पथ मे आ कर खडे हो जाते और वही से मेरी ओर इगित कर के चिल्लाते, "भुतहा! भुतहा!" मै उनका अभिप्राय नही समझता था, फिर भी उन के शब्दो मे उपेक्षा और तिरस्कार का स्पष्ट भाव मुझे बहुत दु ख देता था .

क्या मानवो की भक्ति उतनी ही अस्थायिनी है, जितना उन का प्रेम? अभी उस दिन मै गाँव के विधाता की तरह पूजित था, इतनी स्त्रियाँ मेरे चरणो मे सिर नवाती थी ओर प्रार्थना करती थी, "देवता, मेरा दु ख मिटा दो!" मुझमे दु ख मिटाने की शक्ति नही थी, पर एक मूक सहानुभूति तो थी। मेरी अचलता उन की मेरे प्रति श्रद्धा कम नही करती थी, बढाती ही थी। पर जब उस स्त्री ने आ कर मेरे चरणो मे अपना दु:ख स्वय मिटा लिया, तब उन के हृदय से आदर उठ गया! इतने दिन से मैं दु ख की कथाएँ सुना करता था, देखा कुछ नही था। उस दिन मैंने देख लिया कि मानवता का दु ख कहाँ है, पर उस ज्ञान से ही मै कलुषित हो गया! जब मै दु ख जानता ही नही था, तब इतने प्रार्थी आते थे। अब मैं जान गया हूँ, तब वे दु ख-निवारण की प्रार्थना करने नही आते, मेरा ही दु ख बढा रहे हैं।

भक्ति तो अस्थायिनी है ही—भक्ति और प्रेम का कुछ सम्बन्ध है। मै अभी तक प्रेम ही को नही समझ पाया हूँ, यद्यपि इस की मुझे स्वय अनुभूति हुई है। भक्ति—भक्ति मैंने देखी ही तो है!

जब मेरे वे उन्माद के दिन बीत गये, जब मेरी त्वचा ने कठोरता आने लगी, मेरी शाखाओ मे गाँठे पड़ गयी, तब मुझे प्रेम का नया उद्बोधन हुआ। मेरे

बिखरे हुए विचारो मे फिर एक नये आशा-भाव का सचार हुआ, संसार मानो फिर से सगीत से भर गया

कीर्त्ति—अच्छी या बुरी—कुछ भी नही रहती। एक दिन मैंने अपनी सत्कीर्त्ति को धूल मे मिलते देखा था, एक दिन ऐसा आया कि मेरी कुकीर्त्ति भी बुझ गयी। सत्कीर्त्ति का मन्दिर एक क्षण ही मे गिर गया था, कुकीर्ति के मिटने मे वर्षों लग गये—पर वह मिट गयी। लोग फिर मेरे निकट आने लगे, पूजा-भाव से नही, उपेक्षा से। गाँव की स्त्रियाँ फिर मेरे चरणो मे बैठने लगी, आदर से नही, दर्प से, या कभी थकी होने के कारण। बालिकाएँ फिर मेरे आसपास एकत्र हो कर नाचने लगी, न श्रद्धा से, न तिरस्कार से, केवल इस लिए कि घर से भाग कर वहाँ आ जाने मे उन्हे आनन्द आता था। मेरे टूटे हुए मन्दिर का पुनर्निर्माण तो नही हुआ, पर उस के भग्नावशेष पर चूना फिर गया!

पर उस खँडहर से ही नयी आशा उत्पन्न हुई!

जब प्रभात होता था, मेरा शिखर तोतो के समूह से एकाएक ही कूजित हो उठता था, शीतल पवन मे मेरे पत्ते धीरे-धीरे काँपने लगते थे, न-जाने कहाँ से आ कर कमलो की सुरभि वातावरण को भर देती थी, इस वल्लरी के शरीर मे भी एक उल्लास के कम्पन का अनुभव मुझे होता था, जब सारा ससार एक साथ ही कम्पित, सुरभित, आलोकित हो उठता था, तब वह आती थी और उन खेतो मे, जिन मे छटी हुई घास मे, अर्धविस्मृत अलसी और पोस्त के फूलो का प्रेत नाच रहा था, बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रहती थी। फिर जब धूप बहुत बढ़ जाती थी, जब उस का मुख श्रम से आरक्त हो जाता था, और उस पर स्वेद-विन्दु चमकने लगते थे, तब वह हँसती हुई आ कर मेरी छाया में बैठ जाती थी।

उस की वेश-भूषा विचित्र थी। गाँव की स्त्रियो में मैने वह नही देखी थी। वह प्राय श्वेत या नीला आभरण पहनती थी, और उस के केश आँचल से ढके नही रहते थे। उस का मुख नमित नही रहता था, वह सदा सामने की ओर देखती थी। उस की आँखो मे भीरुता नही थी, अनुराग था, और साथ ही थी

एक अव्यक्त ललकार—मानो वे ससार से पूछ रही हो, "अगर मै तुम्हारी रीति को तोड़ूँ, तो तुम क्या कर लोगे ?"

वह वहाँ [illegible] हो कर बैठ रहती, उस के मुख पर का वह मुग्ध भाव देख कर मालूम होता कि वह किसी अकथनीय सुख की आन्तरिक अनुभूति कर रही हो। मै सोचता रहता कि कौन-सी ऐसी बात हो सकती है, जिस की स्मृतिमात्र इतनी सुखद है ! कितने ही दिन वह आती रही, नित्य ही उस के मुख पर आत्म-विस्मृति का वह भाव जाग्रत होता, नित्य ही वह एक घटे तक ध्यानस्थ रहती और आ कर चली जाती, पर मुझे उस परमानन्द के निर्झर का स्रोत न मालूम होता।

फिर एक दिन एकाएक भेद खुल गया—जिस परिहासमय देवता की उपासना मैने की थी, वह भी उसी की उपासिका थी, किन्तु परिणाम हमारे कितने भिन्न थे !

एक दिन वह सदा की भाँति अपने ध्यान मे लीन बैठी थी। उस गाँव से आने वाले पथ पर एक युवक धीरे-धीरे आया, और मेरे पीछे छिप कर उसे देखने लगा। उस का ध्यान नही हटा, वह पूर्ववत् बैठी रही। जब उस की समाधि समाप्त हो गयी, तब वह उठ कर जाने लगी, तब भी उसने नवागन्तुक को नही देखा।

वह युवक स्मित-मुख से धीरे-धीरे गाने लगा —

> चूनरी विचित्र स्याम सजिकै मुबारक जू
> ढाँकि नख-सिख से निपट सकुचाति है,
> चन्द्रमै लपेटि कै समेटि कै नखत मानो
> दिन को प्रणाम किये रात चली जाति है !

वह चौक कर घूमी, फिर बोली, "तुम—यहाँ !" उस के बाद जो-कुछ हुआ, उस का वर्णन मै नही कर सकता ! वह था कुछ नही—केवल कोमल शब्दो का विनिमय, आँखो का इधर-उधर भटक कर मिलन और फिर नमन—बस ! पर मेरे लिए उस मे एक अभूतपूर्व आनन्द था—न-जाने क्यो !

कुछ दिन तक नित्य यही होता रहा। किसी दिन वह पहले आती, किसी दिन युवक, पर दोनो ही के मुख पर वह विमुग्धता का, आत्म-विस्मृति का, भाव रहता था। जिस दिन युवक पहले आता, वह मेरी छाया मे बैठ कर गाता :—

नामसमेत कृतसकेत वादयते मृदु वेणुम्—
बहुमनुतेऽतनु ते तनुसगत पवनचलितमपि रेणुम्!

और जिस दिन वह पहले आती, वह उन खेतो मे घूमती रहती, कभी-कभी ओस से भीगा हुआ एक-आध तृण उठा कर दातो से धीरे-धीरे कुतरने लगती।

एक दिन वह घूमते-घूमते थक गयी, और मेरे पत्तो की सघन छाया मे, इस वल्लरी के बन्धन को मेखलावत् पहन कर बैठ गयी। युवक नही आया।

दोपहर तक वह अकेली बैठी रही—उस के अग-अग मे प्रतीक्षा थी, पर व्यग्रता नही थी। जब वह नही आया, तब वह कहने लगी—न-जाने किसे सम्बोधित कर के, मुझे या इस वल्लरी को, या अपने-आप को, या किसी अनुपस्थित व्यक्ति को—कहने लगी

"यह उचित ही हुआ। और क्या हो सकता था? अगर कर्तव्य भूल कर सुख ही खोजने का नाम प्रेम होता, तो—! मै जो-कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ, अनुभव करती हूँ, उस का अणुमात्र भी व्यक्त नही कर सकी—पर इस से क्या? जो-कुछ हृदय मे था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है। प्रेम मे दुःख-सुख, शान्ति और व्यथा, मिलन और विच्छेद, सभी है, बिना वैचित्र्य के प्रेम जी नही सकता. नही तो जिसे हम प्रेम कहते है, उस मे सार क्या है?"

वह उठी और चली गयी। मेरी छाया से ही निकल कर नही, मेरे जीवन से निकल गयी। पर उस के मुख पर मलिनता नही थी, अब भी वही आत्म-विस्मृति उस की आँखो मे नाच रही थी...

मेरे लिए उस का वही अवसान हो गया। उस के साथ ही मानवी प्रेम की मेरी अनुभूति भी समाप्त हो गयी। शायद प्रेम की सब से अच्छी व्याख्या

ही यही है कि इतने वर्षों के अन्वेषण के बाद भी मेरा सारा ज्ञान एक प्रश्न ही मे समाप्त हो जाता है—"नही तो, जिसे हम प्रेम कहते है, उस मे सार क्या है ?" किन्तु इतने वर्षों मे जिस अभिप्राय को, जिस सार्थकता को, मै नही खोज पाता था, वह उस स्त्री के एक ही प्रश्न मे मुझे मिल गयी। उस दिन मैं समझने लगा कि अभिव्यक्ति प्रेम के लिए आवश्यक नही है उसने कहा तो था, "जो-कुछ मेरे हृदय मे था—है—उस से मेरा जीवन तो आलोकित हो गया है !" मै अपना प्रेम नही व्यक्त कर सका, मेरा जीवन एक प्रकार से न्यून, अपूर्ण रह गया, पर इस से क्या ? उस दीप्तिमय आत्म-विस्मृति का एक क्षण भी इतने दिनो की व्यथा को सार्थक कर देता है !

मै देखता हूँ, ससार दो महच्छक्तियो का घोर सघर्ष है। ये शक्तियाँ एक दूसरे से भिन्न नही है, एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ है। एक सयोजक है—इस का भास फूलो से भौरो के मिलन मे, विटप से [illegible] मे, चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध मे, रात्रि से अन्धकार के प्रणय में, उषा से आलोक के ऐक्य मे, होता है, दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इस का भास आँधी से पेडो के विनाश मे, विद्युत् से लतिकाओ के झुलसने मे, दावानल से वनो के जलने मे, शकुन्त द्वारा कपोतो के मारे जाने मे होता है .कभी-कभी दोनो शक्तियो का एक ही घटना मे ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते है, कुछ भी समझ नही पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है

कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता है कि इतना कुछ देख और पाकर भी मै वचित ही नही, अछूत, परित्यक्त रह गया हूँ। मुझे बन्धुत्व की, सखाओ की कामना होती है, पर पीपल के वृक्ष के लिए बन्धु कहाँ है, समवेदना कहाँ है, दया कहाँ है, कभी पर्वत को भी सहारे की आवश्यकता होती है ? मै इतना शक्तिशाली नही हूँ कि बन्धुओं की कामना—उग्र कामना—ही मेरे हृदय के अन्तस्तल मे न हो; किन्तु फिर भी देखने मे मै इतना विशाल हूँ, दीर्घकाय हूँ, दृढ हूँ, कि मुझ पर दया करने का, मेरे प्रति बन्धुत्व-भाव का ध्यान भी किसी को नही होता ! उत्पत्ति और प्रस्फुटन की असख्य क्रियाए मेरे चारो ओर होती है, और बीच मे मै वैसे ही अकेला खडा रह जाता हूँ,

जैसे पुष्पित उपत्यकाओ से घिरा हुआ पर्वतश्रृंग ..

पर उसी समय मेरे हृदय मे यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखडा रोने का कोई अधिकार नही है। मैंने जीवन मे सब-कुछ नही पाया, बहुत अनुभूतियो से मै वचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो-कुछ पाया है, वह पर्याप्त है। न-जाने कितनी बार मैंने वसन्त की हँसी देखी है, पक्षियो का रव सुना है, न-जाने कितनी देर मैंने मानवो की पूजा पायी है, न-जाने कितनी सरलाओ की श्रद्धापूर्ण अजलि प्राप्त की है, और उन सब से अधिक, न-जाने कितनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श मे एक साथ ही वसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता का, शरद् की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैतल्य का अनुभव हुआ है, न-जाने [illegible] [illegible] बन्धनो मे बँध कर और पीडित हो कर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है! एक व्यथा, एक जलन, मेरे अन्तस्तल मे रमती गयी है—कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी—पर मुझे इस ध्यान मे सान्त्वना मिलती है कि मै ही नही, सारा ससार ही मूक है .जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मै मानव की विवशता देखता हूँ, जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा कर के मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मै स्वयं भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इस की अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हूँ!

अक्तूबर, १९३१

हारिति

वह सुन्दरी नही थी। उस के मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उस की ऑखो मे कोमलता न थी, वहाँ कृतनिश्चय की दृढता ही झलकती थी। उस के सिर की शोभा उस पर की अलकावलियों मे नही थी, वरन कटे हुए बालो के नीचे उस उघडे हुए प्रशस्त ललाट मे।

कहते है, स्त्री के जीवन मे आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उस के जीवन मे वे सब कहाँ थे? जब से उस ने होश सँभाला, जब से उस ने अपने चारो ओर चीन-से प्राचीन देश का विस्तार देखा, जब से उसने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्त्व समझा, तब से उस के जीवन मे कितनी दु खमय घटनाएँ हुई थी! जब वह छ वर्ष की थी, तभी उस के पिता को जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँध कर उडा दिया था, क्योकि वे 'बाक्सर' गुप्त समिति के सदस्य थे। उस के बाद १९०० वाले 'बाक्सर'-विप्लव मे, जब उसकी आयु ११ वर्ष की भी नही हुई थी, जर्मन और अगरेज सेना ने आ कर उस के छोटे-से गॉव मे आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये—उन मे उस की वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्याग नदी से पानी भरने गयी हुई-थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ मे आहुतिरूप अर्पण करने के लिए, विधाता ने बचा लिया। वह गॉव की ओर आयी, तो दो-चार बचे हुए लोग रोते-चिल्लाते भागे जा रहे थे। वे उसे भी खीच कर ले गये। वह बेचारी अपनी माता के शरीर की राख भी न देख पायी। उस दिन से कैसा भीषण रहा था उस का जीवन! फूस की झोपडियो मे रहना, या कभी-कभी सीक्याग के किनारे, टिड्डीदल की तरह एकत्रित, अँधेरी, गन्दी, धुएँ से काली डोगियो मे पडे रहना ..उस के अभिभावक, गरीब मछुए, दिन मे अफीम खा कर सो रहते। वह उस गर्मी मे बन्द एक कोने मे बैठ कर सोचा करती, कब तक देश की यह दशा रहेगी, कब तक विदेशी सिपाही इस प्रकार पहले हमारे घर जलायेगे और फिर हमे दड देगे, हमारे देश से करोडो रुपये ले जायेगे ..

आज वह युवती थी। अभी अविवाहिता थी, पर कुमारियो के जीवन में जो आनन्द होता है, वह उसने अपने निर्दय जीवन मे कभी नही पाया। उन मछुओ की सदय, किन्तु निर्धन, शरण से निकल कर उसने कुली का काम किया था, और उस से सचित धन से अपना शिक्षण किया था। अब वह कैंटन-सेना मे जासूस का काम करती थी।

वह सुन्दरी नही थी। उस के जीवन ने सौन्दर्य के लिए कोई स्थान ही न छोडा था। उस की एक मात्र शोभा—उस के केश—भी आज नही रहे थे। आज वह जासूस का काम कर ने के लिए सर्वथा प्रस्तुत थी। वह प्राय पुरुष वेश मे ही रहती, कभी-कभी आवश्यकता होने पर ही स्त्री-वेश पहन लिया करती। उस की सहचरियाँ अब कभी उस से इस विषय मे प्रश्न करती, तो वह कहती, "जिस देश मे पुरुष भी गुलाम हो, उस मे स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।"

उस की बात शायद सच भी थी। चीन की दशा उन दिनो बहुत बुरी थी—अशान्ति सब ओर फैली हुई थी। इधर कैंटन मे सनयात-सेन अपनी सेना का सगठन कर रहे थे। उधर से समाचार आया था कि मचूरिया से सम्राट् का सेनापति युवान शिकाई बहुत बडी सेना ले कर आ रहा है। केंटन की औद्योगिक अशान्ति का स्थान अब एक नये प्रकार के सजीवन ने ले लिया। जिधर आँख उठती, उधर ही लोग वर्दियाँ पहने नजर आते। कैंटन-सेना स्वयसेवी थी, युवान शिकाई की सेना मे सभी वेतन पाकर काम करते थे। कैंटन-सेना के सैनिको के आगे साम्य का आदर्श था, युवान शिकाई के आगे व्यक्तिगत लाभ का। कैंटन-सैनिको के हृदय मे प्रजातन्त्र की चाह थी, युवान शिकाई के सैनिक साम्राज्यवाद की हिली हुई नीव फिर से जमाना चाहते थे। कैंटन की सेना विश्वास के कारण लडती थी, युवान शिकाई की लोभ के कारण। पर कैंटन के सैनिक बहुत थोडे थे, और उन के विरुद्ध युवान शिकाई एक [illegible] प्रलय-लहरी लिए बढा आ रहा था। उन थोडे से गुप्तचरो को दिन-रात अनवरत काम करना पडता था, कभी इधर, कभी उधर, कभी सन्देश पहुँचाना, कभी खबरे लाना—कभी-कभी एक-एक रात मे चालीस-चालीस मील तक

पैदल चलना पड जाता था, पर उन के सामने जो आदर्श था, हृदय मे जो दीप्ति थी, वह उन्हे प्रोत्साहित करती, उन्हे शक्ति प्रदान करती, उन्हे विमुख होने से बचाती थी।

पर सभी के हृदय मे वह आदर्श—वह दीप्ति नही थी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन के हृदय मे दूसरी इच्छाओ, दूसरी आशाओ, दूसरी स्मृतियो ने घर कर रखा था। जिन का ध्यान युवान शिकाई की प्रगति की ओर नही, प्रणय की प्रगति की ओर था, जिन के मन मे दृढ विश्वास का आलोक नही, विरह का प्रज्वलन था। पर जिस तरह कसौटी पर चढने से पहले सभी धातुएँ सोने की तरह सम्मानित होती है, उसी तरह वे भी सघर्ष से पहले सच्चे वीरो मे गिने जाते थे। जिस महान् परीक्षा से पृथक्करण होना था, वह अभी आरम्भ नही हुई थी।

वह नित्यप्रति जब उठ कर अपनी मर्दानी वर्दी पहनती, तो किसी अनि-यन्त्रित शक्ति से प्रार्थना किया करती. "शक्ति! मुझे इतनी दृढता दे कि कि मै उस आनेवाली परीक्षा मे उत्तीर्ण हो सकूँ। मै स्नेह से वचित रही हूँ, अनाथिनी हूँ, प्रेम करने का अधिकार मुझे नही है—मै दासी हूँ। कीर्त्ति की मुझे इच्छा नही है—गुलाम की क्या कीर्त्ति, पर मुझे पथ-भ्रष्ट न करना, मुझे विश्वास के आयोग्य न बना देना।"

फिर वह शान्त हो कर अपने तम्बू से बाहर निकल आती, और दिन-भर दत्तचित होकर अपना काम करती। दिन मे उसे कभी अनिश्चय का, अविश्वास का, कातरता का अनुभव न होता। सभी उस के प्रशस्त ललाट, उस के प्रोज्ज्वल नेत्र, उस के तेजोमय मुख को देख कर विस्मित रह जाते।

घनघोर वर्षा हो रही थी। पाँच दिन से वह अविरल जल-धारा नही रुकी थी। वह पीतवर्णा, कृशकाया सीक्याग आज घहर-घहर करती बह रही थी। उस का पाट पहले से दुगना हो गया था, और रग बदल कर लालिमामय हो

रहा था । उस के किनारे, वही जहाँ दस वर्ष पहले अगरेज ओर जर्मन सेना ने एक छोटे-से गाँव को अधिवासियो-सहित जला दिया था, आज एक बडा फौजी शिविर था, और कितनी ही छोटी-छोटी छोलदारियाँ इधर-उधर लग रही थी ।

वर्षा हो रही थी, पर कैटन के सेना के उस शिविर मे उस की बिलकुल उपेक्षा थी । कितने ही सैनिक चुपचाप अपने स्थानो पर खडे पहरा दे रहे थे । उन की वर्दियाँ भीग गयी थीं । बूट कीचड से सन गये थे । हाथों की उँगलियो पर झुर्रियाँ पड गई थी, पर वे अपने स्थानो पर सावधान खडे थे ।

रात बहुत बीत चुकी थी, छोलदारियो मे अँधेरा था । केवल बीचवाले एक बडे तम्बू मे प्रकाश था । उस के बाहर बहुत से पहरेदार थे । वे एक दूसरे के सामने खडे थे । फिर भी [illegible] बात नही कर रहा था

एकाएक भीतर से आवाज आयी, "क्वेनलुन !"

एक पहरेदार अन्दर गया, और क्षण भर मे बाहर आ कर छोलदारियो की ओर चला गया ।

थोडी देर मे वह लौट आया । अब वह अकेला न था । उस के साथ थी एक स्त्री, जिस का शरीर एक भूरे फौजी कम्बल से ढँका था, पर सिर खुला था, उस पर केश कटे हुए थे ।

दोनो अन्दर चले गये ।

अन्दर एक बडे गैस-लैम्प के प्रकाश मे चार-पाँच अफसर बैठे हुए थे । एक कुछ चिट्ठियाँ पढ रहा था । एक ने दो-तीन नक्शे अपने आगे बिछा रखे थे, और उन्हे ध्यान से देख रहा था—कभी-कभी पेंसिल से उन पर चिन्ह भी लगा देता था । एक और बैठा हुआ लिख रहा था । उस की वर्दी की ओर देखने से मालूम पडता था कि वह कर्नल था । और बाकी सब उस से छोटे पद के थे । पहरेदार और वह स्त्री कर्नल के आगे सलाम करके खडे हो गये । उसने कुछ देर ध्यान से स्त्री की ओर देखा, और बोला, "नम्बर ४७४ ?"

स्त्री ने शान्त-भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ ।"

"तुम कैटन मे डायना पेइफू का घर जानती हो ?"

"जी हाँ, वह नदी के किनारे ही एक लाल मकान मे रहती है ।'

"हाँ।"

कर्नल ने एक पत्र निकाला, और उस पर मुहर लगा कर उसे दे दिया। फिर कहा, "नम्बर ४७४, यह पत्र उन्हें पहुँचाना है।"

"कब तक ?"

"वैसे तो कोई जल्दी नही है, पर बाढ आ रही है, शायद रात-रात में रास्ता बन्द हो जाय।"

"बहुत अच्छा।" कह कर वह जाने लगी।

जो व्यक्ति नक्शा देख रहा था, उसने कहा, "कर्नल, यहाँ से कैंटन के रास्ते मे तो युवान शिकाई की सेना पहुँच रही है।"

"हॉ, मुझे याद आ गया। नम्बर ४७४।"

"जी हॉ।"

"हाकाऊ से समाचार ले कर तुम्ही आयी थी न ?"

"जी हॉ।"

"फिर तुम्हे पूरी स्थिति मालूम ही है। अपने साथ दम चुने हुए आदमी लेती जाओ।"

"बहुत अच्छा।"

"तुम्हारे पास वह जासूस का चिन्ह है ?"

"नही, मैंने हाकाऊ से आते ही उसे वापस कर दिया था। अब आप दे दे।"

कर्नल ने जेब मे से चॉदी का बना हुआ एक छोटा-सा चीनी अजगर निकाला, और देते हुए बोला, "हमे तुम पर पूरा विश्वास है।"

उस स्त्री ने कोई उत्तर नही दिया। वह चुपचाप विचित्र चिन्ह ले कर सलाम कर के चली गयी। कर्नल ने लिखना बन्द कर दिया। एक हल्की-सी सन्तुष्ट हँसी उस के मुँह पर दौड गयी।

"क्या बात थी, हारिति ?"

"कुछ नही, एक दौड और लगानी होगी।"

"कहाँ की ?"

"कैंटन ।"

"पर अभी कल ही तो तुम हाकाऊ से आई थी ?"

"तो क्या ? काम तो करना ही होता है ।"

"ये नब्बे मील अकेली ही जाओगी ?"

"नही, साथ दस आदमी और जायँगे ।"

"पर जो बाढ आ रही है—"

"[illegible] । अगर कैंटन का पुल पार कर लूँगी, तो हमारी जीत है ।"

"और अगर न कर पायी तो ?"

"तैरना जानती हूँ—मछुओ के यहाँ पली हुई हूँ ।"

"हारिति ?"

"हाँ, क्या है ?"

"मुझे साथ ले चलोगी ?"

"क्यो ?"

"यो ही तुम्हारे साथ जाने को जी चाहता है ।"

"पर फिर मेरे बाद यहाँ किसी की जरूरत हुई तो ?"

"तुम वापस नही आओगी ?"

"पता नही । कैंटन मे जो आज्ञा मिलेगी, वही माननी होगी । फिर शायद यहाँ से तुम को भी जाना पडे—युवान शिकाई बहुत पास आ पहुँचा है ।"

"फिर तो तुम नही आओगी, हारिति !"

हारिति कुछ बोली नही । उसने चुपचाप अपनी मर्दानी वर्दी पहनी, और कोट के अन्दर वह चीनी अजगर लगा लिया । फिर बिना कुछ कहे ही वह छोलदारी से बाहर निकल गयी ।

"क्वानयिन ! क्वानयिन !"

"कौन है ?"

"मै हूँ, हारिति ।"

"इस समय क्या काम है , हारिति ?"

"काम मिला है, अभी जाना होगा । वर्दी पहन कर बाहर आओ ।"

"इतनी रात को काम ? कितनी दूर जाना है ?"

"बहुत दूर । समय नही है, जल्दी करो ।"

"लो, आया, और कौन साथ जायगा ?"

"तुम्ही नौ आदमी चुन कर ले आओ——मै घोड़े चुनने जाती हूँ ।"

"अच्छा, मै फाटक पर अभी पहुँचता हूँ, पर इतने आदमी क्या होगे ?"

हारिति ने धीरे से कहा, "रास्ते मे युवान शिकाई की सेना से मुठभेड़ की आशका है ।"

"अच्छा, फिर तो पूरी तैयारी करनी होगी ?"

"हाँ, पर जल्दी ।"

हारिति चली गयी । उस के बाद छोलदारी के अन्दर से बहुत कोमल ध्वनि आयी, "हारिति, हारिति, कितनी दृढ हो तुम ? मै कभी तुम्हारी बराबरी कर सकूँगा ?"

हारिति वहाँ सुनने को या उत्तर देने को नही खडी थी ।

वर्षा अभी भी हो रही थी । सीक्याग का नाद घोरतर होता जा रहा था । उस की अरुणिमा बढ़ती जा रही थी .

वे ग्यारह व्यक्ति रास ढीली किये, घोडे दौड़ाये जा रहे थे । कोई कुछ बोलता नही था, पर हर एक के मन में न-जाने क्या-क्या विचार उठ कर बैठ जाते थे । किसी के हृदय मे भय न था, पर कितने चौकन्ने हो कर वे चारों ओर देखते जाते थे !

वर्षा की और नदी की ध्वनि मे उन घोडो के दौड़ाने की ध्वनि डूब गयी थी । उन की प्रगति काल के प्रवाह की तरह रवहीन किन्तु अविराम मालूम हो रही थी । किसी महती कामना की प्रतिच्छाया की तरह शान्त, किसी बे-रोक

मशीन की तरह नियन्त्रित, वे घोडे जा रहे थे। और उन के सवार धीरे-धीरे हिसाब लगाते जाते थे कि इस गति से कब पुल पार करेंगे—करेंगे भी या नही...

नदी भी बढी चली जा रही थी। उस के प्रवाह मे दर्प था, अवमानना थी, सिंह का गर्जन था, और थी प्रकाड प्रलयकामना। घोडो के उस क्षुद्र प्रयत्न को कितनी उपेक्षा से देख रही थी वह, और मानो हँस कर कह रही थी—प्रकृति के प्रवाह को ललकारोगे, जीतोगे, तुम !

"हारिति, कुछ सुनायी पडता है ?"

"नही। क्या है ?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैने कही गोली चलने की आवाज़ सुनी।"

"सम्भव है। हमारा सब सामान तो ठीक है न ?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नही।"

क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, वह देखते हो ?"

"किधर ?"

"वह दाहनी ओर। कही आग का प्रकाश है।"

"हॉ, हाँ—"

"वह है शत्रु का शिविर।"

"हमने गोलियाँ भर रखी है। कितनी दूर और जाना है ?"

"अभी बहुत है—कोई ३५ मील।"

"पुल कितनी दूर है ?"

"तीस मील।"

फिर क्षण-भर शान्ति।

"क्वानयिन, साथियो को सावधान कर दो। लडाई होगी। वे घुड़सवार हम से भिडने आ रहे है।"

"रुक कर लडना होगा ?"

"नही। रुकने का समय नही है। हम बढते जायँगे।"

"पर—"

"क्या ?"

"हमारे घोडे थक गये है।"

"फिर ?"

"हमे रुक कर लडना चाहिए, और उन के घोडे छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोडे भी मारे गये तो ?"

"घोडो पर से उतर कर अलग हट कर लडेगे, उन्हे बचा लेगे।"

"वे वहुत आदमी है, हम थोडे।"

"वे वेतन के लिए लडते है, जान देने के लिए नही।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"

घोडे रुक गये। उन्हे इकट्ठा खडा कर दिया गया। हारिति उन के पास खडी हो गयी। क्वानयिन और उसके साथी कुछ आगे हट कर खडे हो गये।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

एक साथ ही दस गोलियाँ चल गयी। आक्रमणकारियो ने अपने घोड़े रोक लिये, और अन्धकार मे देखने की चेष्टा करने लगे कि गोलियाँ कहाँ से आयी थी।

ठाॅय! ठाॅय! ठाॅय!

फिर दस गोलियाॅ छूटी। अब की बार उत्तर आया।

हारिति चुपचाप देख रही थी। जब शत्रु-पक्ष की ओर से बौछार आती, तब वह कुछ चिन्तित हो कर पूछती, "क्वानयिन, कहाँ हो तुम ?" और वह हँस कर उत्तर देता—"हारिति, हमारी जीत होगी।" फिर वह शान्त हो जाती थी।

एकाएक गोली चलनी बन्द हो गयी। क्वानयिन बोला, "हारिति, वे भाग रहे है—हम घोडे पकडे लेते है!"

थोडी देर मे आठ नये घोडे एकत्रित हो गये। हारिति, क्वानयिन **और** पाँच अन्य व्यक्तियो ने घोडे बदल लिये। बाकी उस लडाई मे खेत रहे थे...

"क्वानयिन, अपने घोडो का क्या करना होगा ?"

"यही छोड दिये जायॅ ?"

"शत्रुओ के लिए ? नही, उन्हे खाली साथ ले चलेगे !"

"और जो न दौड सकते हो ?"

"उन्हे गोली मार देगे।"

"हारिति !"

"क्या है ?"

"कुछ नही, चलो।"

फिर वही होड, वही सीक्याग के प्रवाह से प्रतियोगिता, वही नि.शब्द प्रगति..

"हारिति !"

"क्या है ?"

"वे फिर आ रहे है।"

"आने दो। अब रुकना नही होगा।"

"एक बात कहूँ ?"

"कहो।"

"तुम आगे चली जाओ, हम रुक कर उन से युद्ध करते है।"

"क्यो ?"

"अब की बार उन्हे भगा नही सकेगे, कुछ देर रोक ही पायेगे।"

"फिर क्या होगा ?'

"होगा क्या ? यदि रोक सकेगे, तो अच्छा। नही तो—"

"नही तो क्या ?"

"मैं फिर तुमसे आ मिलूंगा।"

क्षण-भर निस्तब्धता।

"क्वानयिन !"

"हारिति !"

"तुम ठीक कहते हो, मै अकेली ही जाती हूँ।"

"जाओ। शायद मै फिर आ मिलूँ।"

"शायद—"

रात्रि के अन्धकार का रूप कुछ बदलने लगा था। बादल अब भी घिरे हुए थे। वर्षा अब भी हो रही थी। पर जहाँ पहले एकदम निविड अन्धकार था, वहाँ अब कुछ भूरा, कुछ सफेद, मिश्रित-सा अन्धकार हो गया था। और धरती पर से भाप उठ कर जमने लग गयी थी। पहले की प्रगाढ नीलिमा मे जो वस्तुएँ कुछ अस्पष्ट दीखती थी, वे अब एकदम लुप्त हो गयी थी। अभी उषा के लालिमामय आगमन मे बहुत देर थी। सीक्याग का पुल भी अभी दस मील दूर था। हारिति थक गयी थी। उस का घोडा भी थक गया था। और उन बिछुडे हुए साथियो की, क्वानयिन की, स्मृति उसे खिन्न कर रही थी; पर उस के हृदय मे जो शक्ति थी, जिस के आगे उस ने इतनी बार दृढता की भिक्षा माँगी थी, वह शक्ति आज उस की सहायता कर रही थी, उस के शरीर मे नयी स्फूर्ति का सचालन कर रही थी। उसने घोडे की गति धीमी नही की थी, जिस गति से यात्रा का आरम्भ किया था, उसी से अब भी चली जा रही थी। उस के पीछे एक और सवार चला आ रहा था, पर उसे इस का ध्यान न था। वह पीछे नही देखती थी, न उसे पीछे से घोडे की टाप सुन पड़ती थी। उस का ध्यान उस क्रमशः घटते हुए दस मील के अन्तर पर स्थिर था।

वह सवार धीरे-धीरे पास आ रहा था। जब वह कुछ ही पीछे रह गया, तब उसने पुकारा, "हारिति, मै आ गया।"

हारिति के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दौड गयी, पर उसने घोडे को रोका नही। जब क्वानयिन बिलकुल उस के बराबर आ गया, तब उसने पूछा, "क्वानयिन, बाकी साथी कहाँ रहे ?"

क्वानयिन ने बिना उस की ओर देखे ही उत्तर दिया, "नहीं रहे ।"

बहुत देर तक दोनों चुपचाप बढ़ते गये । फिर हारिति बोली, "और घोड़े ?"

"मर गये । मैं भी दूसरा घोड़ा लेकर पहुँच पाया हूँ ।"

"शत्रु कहाँ हैं ?"

"बहुत पीछे रह गये हैं ।"

"फिर मुठभेड़ की सम्भावना है ?"

"अवश्य ।"

"क्यों ?"

"उन्हें शक हो गया है कि हम पत्र-वाहक हैं, और हम से कुछ पाने की आशा है ।"

हारिति कुछ हँसी । "कुछ पा लेने की आशा ! कितने मूर्ख हैं वे !"

"क्यों ?"

"कैंटन के सैनिक धन के लिए विश्वास नहीं बेचते !"

कुछ देर चुप रह कर क्वानयिन बोला, "हारिति, कैसी रहस्यमयी स्त्री हो तुम ! अगर—"

"देखो क्वानयिन, ऐसी बातों से मुझे दुःख होता है ।"

"क्यों ?"

"हम गुलाम हैं । हमें अपने आदर्श के अतिरिक्त किसी बात का ध्यान करने का अधिकार नहीं है ।"

क्वानयिन ने धीमे स्वर में कहा, "सच कहती हो, हारिति ! मैं बार-बार भूल जाता हूँ ।" और फिर चुप हो गया ।

"दो मील ।"

"पर हम इतना जा पायेंगे, हारिति! वह देखो, शत्रु कितना पास आ गये हैं ।"

"कोई चिन्ता नहीं । हम पुल पार कर लेंगे, फिर इनका डर नहीं रहेगा ।"

"पर पुल तक के दो मील..."

"गति तेज कर दो । अब तो इन्हे रोकने का भी प्रयत्न नही कर सकते ।"

"मेरे पास पाँच भरे हुए पिस्तौल है, और यह बन्दूक तो है ही ।"

"पाँच पिस्तौल !"

"हाँ, अपने साथियो के उठा लाया हूँ ।"

"दो मुझे दे दो । शायद—"

क्वानयिन ने जेब से निकाल कर दो पिस्तौल उसे पकडा दिये । उसने उन्हे अपने कोट मे डाल लिया, और बोली, "अगर निर्णय ही करना होगा, तो पुल पर करेगे । वहाँ बना-बनाया मोर्चा मिल जायगा ।"

"पर दो आदमी मोर्चे की क्या रक्षा करेगे ?"

"शायद पार निकल सके । नही तो—"

"क्या ?"

"इतने दिन सीक्याग के ऊपर रही हूँ, आज उसके नीचे तो आश्रय मिल ही जायगा ।"

"हारिति !"

"वह देखो क्वानयिन सामने ! पुल आ गया ।"

"प्रजातन्त्र की जय !"

प्राची दिशा से बादलो को चीर कर फीका पीला-सा प्रकाश निकल रहा था । उस के सामने ही सीक्याग के प्रमत्त प्रवाह के ऊपर पुल का जँगला दीख रहा था । कितना विमुग्धकारी था वह दृश्य, और साथ ही कितना निराशापूर्ण ! नदी की सतह पुल की पटरियो को छू रही थी । कभी-कभी किसी लहर का पानी पुल के ऊपर से भी छलक जाता था । और ठीक मध्य मे, जहाँ नदी का प्रवाह सब से अधिक था, पुल का एक अश टूट कर बह गया था । दोनो ओर से दो पटरियाँ आती, और बीच मे लगभग २०-२२ फुट का खुला स्थान छोड कर ही समाप्त हो जाती । उस स्थान मे केवल विपुल जल-प्रवाह का गर्जन और उस की अथाह अरुणिमा ही थी ।

"हारिति, वह देखो, क्या है !"

"मैने देख लिया है ।"

"अब क्या करना होगा ?"

हारिति ने कुछ उत्तर नहीं दिया। रास खींच कर घोड़ा रोक लिया। क्वानयिन ने भी उस का अनुसरण किया। हारिति ने मुड़ कर पीछे की ओर देखा, शत्रु अभी आध मील दूर थे। क्षण-भर वह अनिश्चित खड़ी रही; फिर बोली, "क्वानयिन, हमारी परीक्षा का समय आ गया।"

क्वानयिन कुछ नहीं बोला। प्रतीक्षा के भाव से हारिति के मुख की ओर देखने लगा। हारिति घोड़े पर से उतर पड़ी। क्वानयिन ने भी उतरते हुए पूछा, "क्या करोगी ?"

"बताती हूँ।" कहकर वह अपने पुराने घोड़े पर सवार हो गयी। "देखो क्वानयिन, तुम यहाँ खड़े हो कर मोर्चा लेना, मैं जा रही हूँ।"

'कहाँ ?"

"पार।"

"कैसे ?"

"कूद कर।"

"कूद कर ! यह तुमसे नहीं होगा, हारिति ! तुम्हारा घोड़ा भी तो थका हुआ है।"

"मैंने निश्चय कर लिया है। और कोई उपाय नहीं।"

क्वानयिन ने अनिच्छा से कहा, "तो नया घोड़ा ही ले जातीं।"

"उस का मुझे अभ्यास नहीं। पुराना घोड़ा ही ले जाना होगा।"

हारिति ने जल्दी से अपना कोट उतारा और पिस्तौल क्वानयिन को दिये। वह चाँदी का अजगर चिन्ह उसने अपनी कमीज़ में लगा लिया, और पत्र को अच्छी तरह लपेट कर कमरबन्द में रख लिया।

"हारिति, यह क्या कर रही हो ?"

"शायद कूद न पाऊँ, व्यर्थ का भार नहीं रखना चाहिए।"

"हारिति, क्या यह विदा है ?"

"हाँ। वह देखो, शत्रु आ रहे हैं। मुझे विदा दो।"

"तुम्हारे बाद मुझे क्या करना होगा ?"

हारिति क्षण-भर स्थिर दृष्टि से क्वानयिन की ओर देखती रही। फिर बोली, "शायद कुछ भी नही करना होगा। अगर—अगर बच गये, तो पार कूद आना, और क्या करोगे ?"

"जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो, मै भी अधीर न होऊँगा।"

हारिति ने झुक कर घोडे का गला थपथपाया, और बोली, "बन्धु, अब मै फिर वही अनाथिनी रह गयी हूँ। मेरी मदद करना।" उसने घोडे को ऐड लगायी, रास ढीली कर दी। घोडा उन गीली पटरियो पर दौडा। हारिति कुछ आगे झुकी।

ठाँय! ठाँय! ठाँय!

शत्रु पहुँच गये। क्वानयिन हारिति को कूदते हुए भी नही देख पाया। उसने शत्रुओ का बन्दूक से जवाब दिया, और फिर पिस्तौल उठा लिये।

क्षण-भर के लिए आक्रमणकारी रुक गये। क्वानयिन ने घूम कर देखा।

पुल की पटरियाँ दोनो ओर खाली थी। उसने देखा, हारिति के घोड़े के अगले पैर पुल के टूटे हुए भाग के उस पार की पटरियो पर पडे, किन्तु पिछले पैर नीचे स्तम्भ मे टकराये, फिसले, और फिर घोडे समेत हारिति उसी अथाह अरुणिमा मे गिर गयी।

क्वानयिन धीरे-धीरे पुल पर हटने लगा। शत्रु आगे बढते आ रहे थे। उस खुले स्थान मे क्वानयिन ने देखा, हारिति का घोडा अभी डूबा नही था, एक बहुत बडे भँवर मे फँस कर घूम रहा था। तैर कर निकलने की उसकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हो रही थी, और हारिति उस पर बैठी शायद कुछ सोच रही थी।

क्वानयिन ने चाहा, मै भी कूद पडूँ, शायद उसे बचा पाऊँ। फिर उसे हारिति के शब्द याद आये,—"हमारी परीक्षा का समय आ गया।" उसने मन-ही-मन कहा—"हारिति हमारे कर्त्तव्य अलग-अलग है। तुम अपना करो, मै अपना। मै शत्रु को रोकता हूँ, तुम्हे कैसे बचाऊँ ?" फिर वह एकाग्र हो कर निशाना लगाने और युवान शिकाई के सैनिको को उडाने लगा।

हारिति सँभल कर उठी, और घोडे की पीठ पर खडी हो कर बोली, "बन्धु, तुमने तो मेरी सहायता की, अब मै तुम्हे छोड कर जा रही हूँ।" फिर उसने एक लम्बी साँस ली, और उछल कर पानी मे कूद पडी—भँवर के बाहर।

गोलियाँ अभी चल रही थी। एक गोली क्वानयिन के कन्धे मे लगी, एक पैर मे। उसने अब शत्रु की चिन्ता छोड दी। उस की आँखे हारिति को ढूँढने लगी। पुल से कुछ दूर उसने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोडे का कही पता न था।

क्वानयिन ने कहा, "हारिति, मेरा काम पूरा हुआ।"

उस ने पिस्तौल उठाया, और अपने माथे के पास रखा। फिर—

"प्रजातन्त्र की जय!"

जब शत्रु वहाँ पहुँचे, तो क्वानयिन का प्राणहीन शरीर वहाँ पडा था। उस के मुख पर विजय का गर्व था। उन्होने जल्दी-जल्दी उसके कपडो की तलाशी ली, फिर धीरे-धीरे ली। कुछ न मिला। क्रुद्ध हो कर उन्होने ठोकरे मार-मार कर उस के शरीर को नदी मे गिरा दिया। वह कुछ देर चक्कर खा कर डूब गया। कुछ बुलबुले उठे, फिर सीक्याग का प्रवाह पूर्ववत् हो गया। युवान शिकाई के सैनिको ने देखा कि दूर पानी मे कोई तैर रहा है। उन्होने उस का ही निशाना ले कर गोलियाँ चलानी प्रारम्भ कर दी। कितनी ही देर तक वे गोलियाँ चलाते रहे। धीरे-धीरे उस व्यक्ति का दीखना बन्द हो गया, शायद डूब गया, या उस अनियन्त्रित प्रवाह मे बह गया। वे लौट गये।

कैंटन के बाहर, सीक्याग के किनारे, बहुत से मछुए आ कर बैठे हुए थे। कुछ पकडने की आशा से नही, केवल इसी चिन्ता का निवारण करने के लिए कि बाढ कब उतरेगी। सूर्य का उदय हो गया था। बादल फट रहे थे। वर्षा का अन्त होने वाला था, पर नदी मे पानी अभी बढता जा रहा था, और वे मछुए बैठ कर देख रहे थे। कोई कह रहा था—"बाढ से एक फायदा है। युवान शिकाई इस पार नही आ सकेगा।"

कोई और पूछ रहा था, "सुना है, युवान शिकाई की सेना कुल पचास मील दूर रह गयी है। क्या यह ठीक बात है ?"

एक तीसरा बोला, "हमारी सेना मे बहुत अच्छे-अच्छे आदमी है। हमारी हार नही हो सकती।"

दूर कही कोलाहल हुआ—"वह देखो, क्या है ? कोई मरा हुआ जानवर बह रहा है। नही-नही, यह तो आदमी है, आदमी !"

सब लोग उधर देखने लगे। फिर कही से दो आदमी, एक छोटी-सी नाव पर बैठ कर, तीव्र गति से उधर चले। उन्होंने दो-तीन बार जाल डाला, पर असफल हुए। फिर किनारे पर खडे दर्शको ने देखा कि वे दोनो धीरे-धीरे कुछ खीच रहे है।

थोडी देर मे उन्होंने एक शरीर निकाल कर नाव मे रखा और किनारे चले आये।

दर्शको की भीड लग गयी। सब अपने-अपने मत का दिग्दर्शन करने लगे।

"कैसा बॉका जवान है।"

"अभी बिलकुल बच्चा है।"

"वह देखो, बॉह से खून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए है।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नही है ?"

"नही, सिर पर चोटी नही है, कैटन का ही सिपाही होगा।"

"यह बॉह मे गोली लगी है।"

"कितना खून बह गया है, पीला पड गया है।"

"मर गया है।"

"नही, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला, फिर उसने ऑखे खोली, "मै कहाँ हूँ ?"

"यह है कैटन। कहाँ से आ रहे हो ?"

"कैटन, वह लाल मकान !"

आँखे फिर बन्द हो गयी। थोडी देर बाद शरीर में कम्पन हुआ, आँखे खुली। उन मे एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठा कर ले चलो।"

"कहाँ ?"

"वह बडा मकान—डायना पेइफू का—उस मे!" वे उसे उठा कर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी! जल्दी!"

वे तेज़ चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी!"

वे दौडने लगे।

थोडी देर मे उस मकान के सामने पहुँच गये। वह शरीर फिर सज्ञाशून्य हो गया था।

उसने धीरे-धीरे आँखे खोली। वह एक बडे सुन्दर कमरे मे सोफे पर पडी हुई थी। पास एक स्त्री खडी हुई थी। आँखे खुलती देख कर उसने चिन्तित स्वर मे पूछा, "अब कैसा हाल है ?"

हारिति ने प्रश्न का उत्तर नही दिया। बोली, "आप ही डायना पेइफू है ?"

"हाँ, कहिए!"

"आप के लिए एक पत्र है।"—हारिति ने पत्र निकालने का प्रयत्न किया, पर हाथो मे शक्ति नही थी। अपने कमरबन्द की ओर इगित करके ही वह रह गयी।

डायना ने स्वय पत्र निकाला, और खोला। उस का मुख लाल हो गया। आँखे लज्जा से कुछ झुक गयी। उसने पत्र को चूम लिया, और धीरे से कहा, "प्रियतम!"

हारिति देख रही थी। यह दृश्य देख कर उसके नेत्रो का तेज एकाएक बुझ गया। उसने आँखे मूँद ली। दो-तीन चित्र उस के आगे दौड गये—दो-तीन स्मृतियाँ—वे मरते हुए बन्धु—वह दीन घोडा—क्वानयिन और उस के

शब्द—"हारिति, हमारी जीत होगी।" "हारिति, क्या यह विदा है?" "जाओ, हारिति, जाओ। तुम वीर हो—मैं भी अधीर नही होऊँगा।"

व्यथा की एक रेखा उस के मुख पर दौड गयी। यही था काम, जिस के लिए उसने इतनी मेहनत की थी, यही थी सेवा, जिस के लिए उसने इतना बलिदान किया था, यही था अनुष्ठान, जिस की पूर्ति के लिए उसने उस घोड़े की, उन बन्धुओ की, और क्वानयिन—क्वानयिन की आहुति दी थी—यह प्रेम-प्रवचना!

हारिति को मालूम हुआ, उस का गला घुट रहा है। उस के निर्बल शरीर मे एकाएक स्फूर्ति आ गयी। उसने एक झटके मे अपनी मोटी कमीज फाड डाली। उस के मुख पर एक आन्तरिक विचार-तरग की झलक, एक हलकी-सी हँसी छा गयी—एक हँसी, जिस मे सफलता की शान्ति नही थी, विजय का गर्व नही था, था केवल एक भयंकर उपहासमय तिरस्कार।

डायना ने उस की ओर देखा और चौकी। उस के मुख पर से वह अनुराग की आभा बुझ गयी। हारिति के वक्ष की ओर देखती हुई विस्मित, चिन्तित, भीत-स्वर मे वह बोली, "ओह! तुम—तुम तो स्त्री हो!"

पर तब हारिति स्त्री नही रही थी। वहाँ जो पडा हुआ था, वह था केवल किसी स्वर्गीय व्यक्ति का परित्यक्त शरीर!

और हारिति के उर पर पडा हुआ वह चीनी अजगर मानो उस के मुख पर व्यक्त उस तिरस्कार को प्रतिबिम्बित कर के हँसे जा रहा था।

अक्तूबर, १९३१

गृहत्याग

Let us rise up and part · no one will know
Let us go seaward as the great winds go
Full of blown sand and foam what help is here ?

—स्विनबर्न

"कितने भोले थे हम—जो सच्चे दिल से इस शिक्षा को अपना कर सन्तुष्ट हो गये !" कह कर बूढे ने एक बहुत लम्बी साँस ली और उठ खडा हुआ। खडे हो कर एक बार उसने अपने चारो ओर देखा, फिर धीरे-धीरे खिडकी के पास जा कर चौखट पर बैठ गया, और घुटने पर ठोडी टेक कर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा।

खिडकी के बाहर कोई बहुत सुन्दर दृश्य हो, यह बात नही थी। वह घर जिसकी कोठरी मे वृद्ध बैठा था, मद्रास नगर की एक बहुत छोटी, बहुत गन्दी गली मे था, और उस कोठरी तक सूर्य्य का प्रकाश कभी नही आ पाता था. . उस खिडकी के बाहर का दृश्य—एक तग गली, जिसके दोनो ओर नालियाँ वह रही थी, जिस मे छोटे-छोटे श्यामकाय बच्चे खेल रहे थे. इस के ऊपर एक पकौडी की दूकान थी जिस मे एक तेल के कडाहे के पास बैठी एक बुढिया धीरे-धीरे कुछ गा रही थी...कभी-कभी वह रुक कर कीच से लथपथ लडको को धमकी देती थी, जिस से वे दूर भाग जाते थे और फिर नाली की कीच मे कूद पडते थे...

बूढा इसी दृश्य को देख रहा था—या इसी दृश्य मे किसी सुदूर प्रदेश की कल्पना किये बैठा था. और वह धीरे-धीरे गुनगुनाता जाता था, मानो तेल से उठते हुए धुएँ से बातचीत कर रहा हो।

कमरे मे वृद्ध अकेला ही था—बहुत अकेला। इतना अधिक अकेला कि उसे अपने वहाँ होने का भी ज्ञान नही था—उस के मुख से शब्द बिना आयास के या नियन्त्रण के निकलते जान पडते थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वय उन्हे सुन नही रहा —न समझ ही रहा है...

"कितने भोले थे हम...इतने बडे जीवन में हम एक इतनी बात भी नही

जान पाये कि स्वत्व क्या है...हमारे लिए वह एक सैद्धान्तिक चीज थी, हम उस की परिभाषा कर सकते थे .किन्तु हमने उस का उपभोग कभी नही किया न हमे उस की कुछ अनुभूति ही है .

"कारखाने के निर्दय कार्य-क्रम से समय बचाकर हमने किताबे माँग-माँग कर पढना शुरू किया, तो क्या पढे ? वही हृदय को जलानेवाली शिक्षा—जिसके सिद्धान्त बचपन से ही हमारे वक्षस्थल पर अमिट अक्षरो में खुद गये थे । हम, जो जन्म के समय से वचित, छलित, विवस्त्र, विवृत, विदग्ध थे, पढ-लिख कर भी यही सीखे कि सम्पत्तिहीन हो कर भी हमे शिकायत नही करनी चाहिए—क्योकि जिन अधिकारो से हम वचित रह गये, वे व्यक्तिगत होने ही नही चाहिए, वे समाज मे ही अभिहित होने चाहिए ..अभी तक हम बाध्य होकर निर्धन और वचित थे, अब हमें शिक्षा मिली कि इस दशा मे रहना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है !..."

बूढा कुछ देर रुक गया, फिर एकाएक बोला, "कितने भोले थे हम !"

इसी समय खिडकी के नीचे कुछ कोलाहल हुआ, पकौडीवाली बुढिया का कर्कश स्वर सुन पडा, फिर एक लडके के रोने की चीख ..

"बुढिया ने मेरा खिलौना तोड़ दिया !"

वृद्ध एकाएक चौंका । उसने खिडकी के बाहर झाँक कर पुकारा, "आ, बेटा, मै तुझे दूसरा खिलौना दूँगा !"

लेकिन वह लड़का रोता हुआ भाग गया था ।

बूढे की बात सुन कर पकौडीवाली बुढिया चिल्ला कर बोली, "अरे कौन है यह खिलौनोवाला ? छोकरे को और बिगाड रहा है ! खिलौने देने चला है—पहले अपने मुँह के दाँत तो गिन ले !"

गली में खडे हुए सब लड़के, जो अब तक सशक दृष्टि से बुढिया की ओर देख रहे थे, उस की इस बात पर खिलखिला कर हँस पडे ।

वृद्ध ने उठ कर खिडकी बन्द कर दी और अन्धकार मे एक बड़ी लम्बी साँस ली ।

फिर उसने दियासलाई से एक बहुत छोटा-सा दीपक जलाया और एक

ओर आले मे रख कर उस के सामने खडा हो गया। उस की ओर देखता हुआ बोला, "क्यो रे, कल भी तुझे जलानेवाला कोई होगा, या नही ?"

क्षण भर वृद्ध ने अपने आप ही सिर हिलाया और "तुझमे स्नेह नही है !" कह कर वहाँ से चला। एक कोने से एक मिट्टी का घडा और एक पीतल का कमडल ले कर वह कोठरी से बाहर निकल पडा।

सीढियो से उतर कर वह एक छोटे-से आँगन मे पहुँचा। यहा पर नल के नीचे उसने घड़ा रख दिया और स्वय पास के चबूतरे पर बैठ कर पानी की बहुत पतली धार की ओर देखने लगा।

घड़े मे पडते हुए पानी की 'घहर घहर घर !' सुनते-सुनते उसे अपना तिरस्कार भूल गया और उस के मुख पर का खिचाव कुछ ढीला हो गया।

उस के विचारो की तरग फिर बहने लगी..."हमने अपने घोर नारकीय गत जीवन का कुछ भी प्रतीकार नही किया, प्रतिवाद तक नही ! प्रबुद्ध हो कर भी हमने कोई चष्टा नही कि जिन वस्तुओ से हम सदा वचित रहे, उन्हे अब स्वय प्राप्त करे, या दूसरो को ही दिलाये...उलटे हम स्वय इसी सिद्धान्त का प्रचार करने लगे कि किसा व्यक्ति का किसी वस्तु पर कोई स्वत्वाधिकार नही है, सभी कुछ सघ का और समाज का है..

"किन्तु हमारा सिद्धान्त मिथ्या थोडे हो था ? हमारा मन कभी-कभी हमारी कठोर यन्त्रणा से निकल कर अदम्य और उद्दड भाव से स्वत्व-कामना करने लगता है, एक स्वत्व विशेष का—लेकिन इस आन्तरिक प्रेरणा का प्रज्वलन विवेक बुद्धि की शीतलता को मिथ्या नही सिद्ध करता...शायद वह प्रेरणा बिल्कुल मरीचिका—"

बूढ़ा फिर एकाएक रुक गया, क्योकि एक छोटी-सी, कोई सात-आठ वर्ष की बालिका, उस के घड़े के पास आ कर खड़ी हो गयी थी, और अपनी हथेली नल पर रख कर पानी इधर-उधर छिटका रही थी। बूढे ने उसे देख कर कहा, "छोटी, घडा भर लेने दे। फिर मैं ही पानी उड़ा कर दिखाऊँगा।"

वह बालिका नल से हट कर बूढे के पास आ कर खडी हो गयी। बोली, "बूढ़े बाबा, तुम्हारा नाम ही गगाधर है ?"

"हाँ, क्यो ?"

"ऐसे ही । पिता कुछ बात कर रहे थे ।"

वृद्ध ने बालिका का हाथ थामते हुए पूछा, "क्या ?"

बालिका उस के और पास चली आयी, और बोली, "बाबा, तुम हमारा घर छोड कर चले जाओगे ?"

वृद्ध ने प्रश्न से समझ लिया बालिका गृहस्वामी की लडकी है । उसने उस का नाम बहुत बार पुकारा जाता सुना था, किन्तु उसे देखा कभी नही था ! उसने कुछ देर चुप रह कर कहा, "हाँ, मुझे जाना ही पड़ेगा । कल चला जाऊँगा ।"

"क्यो गगाधर, तुम्हे हमारा घर अच्छा नही लगा ?"

वृद्ध ने एकाएक जवाब नही दिया । फिर टालते हुए बोला, "देखो, तुम्हारी शकल से तुम्हारा नाम बता सकता हूँ । तुम्हारा नाम कनकवल्ली है—क्यों ठीक है न ?"

बालिका हँस कर बोली, "उँह, पिता से सुन लिया होगा !" फिर एकाएक गम्भीर हो कर कहने लगी, "तुमने बताया नही, तुम्हे हमारा घर अच्छा नही लगता ?"

वृद्ध ने उदास हो कर कहा, "बहुत अच्छा लगता है ।"

"नही तुम मुँह बना कर कह रहे हो । तुम्हे अच्छा नही लगता ।" बालिका ने कहा ।

वृद्ध ने बालिका का मन रखने के लिए कहा, "नही, नही । मैंने मुँह इस लिए बनाया है कि मुझे यह घर छोड कर जाना पडेगा । मै जाना नही चाहता ।"

"तो फिर क्यो जाते हो ? यही रहो न ?"

वृद्ध ने फिर थोडी देर चुप रह कर कहा, "कनक, मेरे पास किराया देने को पैसे नही है, इसी लिए जाना पडेगा ।"

बालिका थोड़ी देर गम्भीर मुद्रा से उस की ओर देखती रही, फिर बोली, "तुम यही बैठे रहना, मैं अभी आती हूँ ।"

"अच्छा।"

"कही जाना मत !" कह कर बालिका भाग गयी।

थोडी देर बाद वृद्ध ने देखा, वह लौटी आ रही है। उस की दोनो बाहों पर, पीठ पर, हाथो मे, सिर पर, कई तरह के बॉस और लकडी के खिलौने लदे हुए थे। वृद्ध उस को देख कर मुस्कराने लगा।

वह पास आ कर बोली, "ये देखो मेरे खिलौने !"

वृद्ध ने बहुत धीमे स्वर मे पूछा, "ये क्यो ले आयी ?"

बालिका ने कुछ अप्रतिभ हो कर पूछा, "क्यो तुम्हे अच्छे नही लगे ?"

वृद्ध बालिका को अपनी ओर खीचते हुए बोला, "कनक, ये खिलौने मेरे ही बनाये हुए है !"

कनक ने बडे विस्मय और अविश्वास के स्वर मे कहा, "सच ?" फिर आप ही आप बोली, "जानते हो, मै ये सब क्यो लायी हूँ ?"

वृद्ध कुछ नही बोला, चुपचाप उस की ओर देखता रहा।

"इन्हे बेच डालो। फिर उन पैसो से घर का किराया दे देना।" कह कर कनक ने सब खिलौने गगाधर के पैरो मे डाल दिये।

गंगाधर की आँखो मे आँसू भर आये...उसने भर्रायी हुई आवाज़ में कहा, "कनक, ये खिलौने उठा कर ले जाओ।"

कनक रुआसी हो गयी और गगाधर के मुख की ओर देखती रही।

वृद्ध ने यह देख कर फिर स्नेह के स्वर मे कहा, "कनक ये रख आओ, फिर मै तुम्हे एक चीज़ दिखा दूँगा। बडी अच्छी चीज है !"

कनक ने धीरे-धीरे खिलौने उठाये और चली गयी। वृद्ध गंगाधर उठा और घडे को हटा कर कमडल भरने लगा। जब वह भी भर गया, तब वह दोनो को चबूतरे पर रख कर कनक की प्रतीक्षा करने लगा।

कनक आयी, तो आते ही बोली, "क्या दिखाओगे ?"

गगाधर बोला, "मेरे साथ आओ।" और घडा तथा कमडल उठा कर अपने कमरे की ओर चला। कनक बोली, "कमडल मुझे दे दो, मैं ले चलती हूँ !" और वृद्ध से कमडल ले कर उस के पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढने लगी।

कभी उस के हाथ से पानी छलक जाता, तो हँस पडती ।

गगाधर ने कमरे मे पहुँच कर घडा यथास्थान रख दिया । कनक ने कमडल भी उसके पास रख दिया ।

गगाधर बोला, 'आओ देखो ।' कह कर दिया उठा कर कमरे के एक कोने मे गया । सामने चादर से ढका हुआ एक बडा-सा ढेर था । उसने चादर उठा ली और फिर बोला, "यह देखो, कनक !"

कनक ने देखा, उस ढेर मे बॉस के और लकडी के पचासो खिलौने रखे हुए थे—हाथी, घोडे, बन्दर, हाथ-पैर हिलानेवाले आदमी, गाड़ियॉ, पक्षी...वह थोड़ी देर के लिए स्तम्भित हो गयी । फिर बोली, "इतने खिलौने !"

गगाधर हँस पडा । बालिका ने पूछा, "तो फिर इन्हे क्यो नही बेच देते ?"

वृद्ध बोला, "आजकल लोग विदेशी खिलौने ही मोल लेते है, इन की बिक्री ही नही होती । इसी लिए मैंने बनाना बन्द कर दिया है, और अब घर छोड रहा हूँ ।"

"ये सब तुमने बनाये है ?"

"सब !"

"तुमने सीखा कहॉ ? मुझे भी सिखा दो ! कैसे अच्छे खिलौने है ?"

गंगाधर उदास भाव से बोला, "हॉ, बुरे नही थे ।"

बालिका का मन किसी दिशा मे चला गया था ! उसने पूछा, "गगाधर, तुम बहुत दिन से हमारे घर में रहते थे ?"

"हॉ मुझे पच्चीस साल हो गये है ।"

"अरे, तब तो मै थी ही नही । तब तुम्हे घर अच्छा लगता था ?"

गंगाधर उस के इस भोले [illegible] ।

"तुम तब से ही खिलौने बनाते थे ?"

"नही । पहले मै लडको को पढाया करता था । फिर—"

"लडको को पढाने से तो यह काम अच्छा है न ? मै तो यही करूँ ।"

गंगाधर ने एक लम्बी साँस ली और चुप हो गया ।

"गंगाधर, तुम तो रोने लगे ?"

"नही, मै एक बात याद कर रहा था। सुनो, तुम्हें अपनी कहानी सुनाऊँ? बहुत अजीब है, लेकिन तुम्हे सारी समझ नही आयेगी।"

"क्यों नही। माँ जब कहानी कहती है, तो मै सब समझ लेती हूँ!"

बिना किसी प्रेरणा के दोनो फिर खिडकी के चौखटे पर बैठ गये और गगाधर खिडकी खोलते हुए बोला, "तो सुनो।"

गगाधर धीरे-धीरे, बिना बालिका की ओर देखे, अपनी कहानी कहने लगा। पच्चीस वर्षो मे उसे तमिल भाषा का बहुत ज्ञान हो गया था और लडकी से उसने सब बात-चीत तमिल मे ही की थी। अब वह अपनी कहानी भी तमिल मे ही कह रहा था। किन्तु बीच मे कभी-कभी जब आवेश मे आ जाता, तब तमिल छोड कर एकाएक हिन्दी बोलने लगता था—और कितनी परिष्कृत, परिमार्जित हिन्दी! फिर एकाएक चौक कर पूछता, "कनक, तुम क्या समझी?" और उसके एकाग्र भाव को देख कर हँस पडता था। इस के बाद कथाक्रम पुन चल पडता. .

"मै जब बहुत बच्चा था, तब कानपुर में रहता था। वहाँ एक कारखाने मे मेरे पिता मजदूरी करते थे, और मैं जब आठ साल का हुआ, तब मुझे भी उसी कारखाने मे लगा दिया गया। मै सुबह से शाम तक—दस-दस घटे लगातार सूत के गोले बनाया करता था..[illegible] हाथ थक जाते थे, पेशियाँ जड हो जाती थी, पर फिर भी हाथ मशीन की तरह चलते जाते थे.. शाम को जब छुट्टी मिलती, तब मै इतना थका हुआ होता था कि उठ कर घर भी नही जा सकता था। पिता आते और उठा कर ले जाते थे। वे खुद इतने थके होते थे कि मै अपने को उन की गोद मे देख कर लज्जित हो जाता था...पर करता क्या?"

गगाधर ने कनक की ओर देखा। वह सहज सहानुभूति से बोली, "तो क्या दिन भर मे खेलना नही मिलता था? खिलौने—"

गगाधर एक विषाद-पूर्ण मुस्कराहट के साथ कहने लगा, "वह भी कहता हूँ, सुनती जाओ।"

"हमे प्रात काल छ. बजे ही काम पर चले जाना पड़ता था, इस लिए

सबेरे तो कुछ खेलना मिलता ही नही था। शाम को छ बजे के करीब म घर पहुँचता, तो थोडी देर तो फटी हुई चटाई पर लेट रहता था। भूख लगती थी तो इतना भी नही होता था कि रो कर रोटी माँग लूँ—चुपचाप पडा हुआ गली हुई छत की ओर देखा करता था कि बरसात मे पानी से बचने के लिए कहाँ सोऊँगा .लेकिन जब सात बजने को होते थे, तब नीचे गली में बहुत से लडको का क्रीडारव सुन कर मुझ मे नही रहा जाता था, अपने थके-माँदे शरीर को किसी प्रकार मैं गली मे ले जाता और उन लडकों के खेलों में अपने को भुला देने का प्रयत्न करता था ..

"हमारे पास कोई खिलौने नही थे, कोई भी चीज़ ऐसी नही थी जिसे हम अपना कह सकते। जब हमारा भाग्य बहुत ही अच्छा होता था, और आधे दिन की छुट्टी मिल जाती थी, तव हम सडको के किनारे की घास में लोट कर, नदी के किनारे की रेत मे घर बना कर और आपस में लड कर ही अपना मनोरजन कर लेते थे। और जव ऐसा सुयोग नही मिलता था, तब... सडको की धूल मे लोट कर, कूडे के ढेरो मे से सिगरेट की डिबिया निकाल कर, किताबो की दूकानो के बाहर से फटे-पुराने अखबारो के चित्रो का कलन कर के ही हम अपनी आत्मा की भूख मिटाया करते थे।"

वृद्ध ने एक बार कनक की ओर ध्यान से देखा और फिर कहने लगा, "और जो चीज सब को मिल जाती है, अपने आत्मीयो का प्रेम—मुझे वह भी नही मिला। पिता को काम से ही छुट्टी नही मिलती थी, और माता मुझे बोध होने के पहले ही मर गयी थी. कनक, तुम्हारे माता है न ?"

कनक ने कहा, "माँ मुझे बहुत प्यार करती है।"

गगाधर ने यह सुना या नही, इस मे सन्देह है। उस का ध्यान बहुत दूर कही चला गया था। वह तमिल को छोड कर हिन्दी मे ही गुनगुनाने लग गया था।

"शायद अपनी बाल्यकालीन स्थिति के कारण, अपनी शिक्षा के दोष—या गुण ?—के कारण, मेरी दशा बाद मे ऐसी हो गयी.. सघ-स्वत्व का प्रचार करते-करते कभी मानो पैरो के तले से धरती खिसक जाती है, अपने

सब तर्क भूल जाते है, अपना आत्म-विश्वासजनित सन्तोष नष्ट हो जाता है, ससार सूना हो जाता है—केवल एक विराट् आशका से, एक भैरव प्रशान्ति से, एक उद्भ्रान्त कामना से आकाश व्याप्त हो उठता है—जिन मनश्चेष्टाओ को हम अब तक छिपाते आ रहे है, वे एकाएक प्रलयकर वेग से सामने आती है, एक ही आकाक्षा—स्वत्वेच्छा—कि इस विशाल विश्व मे कम से कम एक वस्तु तो ऐसी हो जिस पर हमारा एकान्त स्वत्व हो, जिसे हम अपनो कह सकें...हमारे निरीह, नि स्नेह, नीरव हृदयो मे कभी-कभी जो उथल-पुथल मच जाती है, कनक, तुम क्या समझी ?"

कनक हँस कर बोली, "तुम बोल रहे थे, तो तुम्हारे मुँह पर दिये का प्रकाश बहु त काँपता मालूम होता था, मै वही देख रही थी। अब कहानी नही सुनाओगे ?"

"मै क्या कह रहा था ? हाँ, कि हमारे पास खिलौने नही थे। जब मै तेरह साल का हुआ, तब मेरे पिता मर गये। उस के बाद—"

कनक ने गगाधर के घुटने पर हाथ रख कर कहा, "गगाधर, तुम तो बहुत रोये होगे ?"

"नही, रोने को समय नही मिला। मेरे पास पैसे नही थे, पाँच आने रोज़ी मिलती थी। जब पिता मर गये तब मैने वह काम छोड कर आदमी का काम शुरू किया। काम मे हाथ-पैर टूटने लगते थे, पर पैसे ज्यादह मिलते थे—दस आने रोज़। मेरी एक बहिन भी थी, मुझ से साल भर छोटी। उसे भी अब कारखाने मे काम करना पड़ा—उसे चार आने रोज़ मिलते थे। पर वह उसी साल हैज़े से मर गयी, मै अकेला रह गया।"

कनक ने क्षण भर के लिए अपना चिबुक गगाधर के घुटने पर रख दिया। वृद्ध फिर कहने लगा

"मैने फिर वह घर भी छोड़ दिया जिस मे रहता था। उस के बाद कारखाने के बाहर ही कही छप्पर मे सो रहता था, और दिन भर में पेट भरने के लिए दो आने भर खर्च करता था। बाकी पैसे बचा-बचा कर मै एक शिल्प-शाला मे भरती हुआ, और दो साल तक काम सीखता रहा। फिर मैने मज़दूरी छोड़

दी और उसी स्कूल मे नौकर हुआ। यही मैंने पढाई की और बढती भी पायी इसी तरह मै कालेज मे भरती हुआ और मैंने बी०ए० भी पास कर लिया।"

"बी० ए० क्या, चौदहवी जमात को ही कहते है न ?"

गगाधर हँस कर बोला, "हाँ।"

"मै तो अभी दूसरी मे ही पढती हूँ।"

गगाधर फिर हँसा और बोला, "इस समय तक मेरे विचारो मे बहुत बदली हो गयी थी। मै अब अमीरो से डरता नही था, उन से घृणा करता था। मुझे विश्वास हो गया था कि अपने देश की सरकार से और अमीरो से लडाई किये बिना मुझ जैसे मज़दूरो का कोई भला नही होगा। और मै यह भी समझता था कि गरीबी का एक ही इलाज है कि सब पूँजी सब को दे दी जाय—सब जानती हो ?"

"नही।"

"मतलब यह था कि पूँजी पर, रुपये-पैसे पर, सब का बराबर-बराबर हक हो, एक आदमी दूसरे को भूखा मार कर अमीर न हो जाय। मैंने यह लडाई छेडने के लिए और भी आदमी इकट्ठे कर लिये, वे भी मेरी ही तरह विश्वास रखते थे और मेरी ही तरह गरीबी से उठे हुए थे।"

गगाधर फिर हिन्दी मे कहने लगा, "हमारी दीक्षा यही थी कि 'प्रत्येक को उन की पात्रता के अनुसार मिले।' हमारा प्रयत्न भी यही था कि हरेक को यथोचित दे और हमे इस बात का अभिमान था कि हम अपने अधिकार से अधिक कुछ नही माँगते। अब अपनी इस कारातुल्य कोठरी की छोटी परिधि मे, एक नीरस और निरानन्द शान्ति मे मुझे यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि हम मे एक बड़ी भारी त्रुटि थी—जीवन मे एक स्थान पर आ कर हम इस सिद्धान्त को भूल जाते थे.. इस स्थान पर हमारे लिए यह असह्य होता था कि हम किसी के भी द्वितीय हो—चाहे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही क्यो न हो। वहाँ पर हम सदा प्रथम होना चाहते है—या फिर होते ही नही—हमारा अस्तित्व ही मिट जाता है...." फिर एकाएक, तमिल मे, "कनक, अगर तुम्हारे माता-पिता तुम्हे प्यार न करे, कोई भी न करे, तो तुम क्या करो ?"

कनक ने प्रश्न पर विस्मित हो कर कहा, "क्यों न करें, मैंने कोई बुरा काम किया है ?"

गंगाधर एक फीकी हँसी हँस कर बोला, "ठीक है। तुम्हारी कल्पना के बाहर की बात है।" फिर वह अपने अभ्यस्त साधारण स्वर में कहने लगा, "दो साल ऐसे ही बीत गये। फिर एक दिन एकाएक मेरे सब साथी पकड़े गये—पुलिस को मालूम हो चुका था कि हम क्या करना चाहते हैं; और हम में से किसी ने पता दिया था कि कौन-कौन आदमी हैं। अकेला मैं ही बचा रहा—और मैं भी एक स्थान पर नहीं रह सका, कभी बंगाल, कभी महाराष्ट्र, मैं सब जगह भागा फिरता था कि पुलिस मुझे भी न पकड़ ले। लेकिन कहीं कोई सहायक नहीं मिलता था, हर जगह झूठ बोल कर, धोखा दे कर ही मैं अपने आप को रक्षित रख सकता था। बंगाल और महाराष्ट्र दोनों में ही मेरे सिद्धान्त के आदमी थे, पर वे मुझे जानते नहीं थे और बाहर के लोगों से डरते-बचते थे। अगर कभी कोई आश्रय भी दे देता था, तो वैसे जैसे किसी बाजारू कुत्ते को एक टुकड़ा डाल देता है...

"मैं बहुत दिनों से इसी बात का भूखा था जो मुझे नहीं मिलती थी। मैं संसार से अलग हो कर रहना नहीं चाहता था—क्यों चाहता ? अपना स्थान, जो मैंने इतने परिश्रम से प्राप्त किया था, क्यों छोड़ देता ? मैं उन में से नहीं था जो वन्य फूल की तरह अज्ञात, अदृष्ट, नामहीन रह कर ही जीवन व्यतीत करने में सन्तुष्ट होते हैं—मैं और कुछ चाहता था...मैंने बहुत कुछ सहा था, स्नेह की कामना करते हुए भी उस के अभाव में प्रसन्न था, घृणा का सामना किया था, पर यह उपेक्षा मैं नहीं सह सका ! मैं संसार का प्रतिद्वन्द्वी हो कर रह लेता, परित्यक्त होकर नहीं रहा जाता था ! कनक, तुम सुन रही हो न ?"

"हाँ, सुनती हूँ। पर जल्दी-जल्दी कहो, नहीं तो पिता मारेंगे।"

"अच्छा ! सब ओर से धक्के खाते-खाते तंग आ गया। पर हताश नहीं हुआ। मेरे लिए तिरस्कार नयी वस्तु नहीं थी—मेरी स्वाभाविक स्थिति ही यही थी कि मैं समाज की उपेक्षा का, घृणा का, तिरस्कार का पात्र रहूँ ! अगर कोई मुझ से स्नेह करता, तो वही अपवाद होता—अस्वाभाविक और अस्थायी

और भ्रान्तिमय !

"मैंने फिर यही निश्चय किया कि किसी से कुछ आशा नहीं करूँगा, अपने कार्य्य के अतिरिक्त किसी से कोई सम्पर्क न रखूँगा। इसी लिए मैं पागलों की तरह अपने-आप को अपने काम में खो देने का प्रयत्न करने लगा। मैं रोज़ यह प्रार्थना किया करता कि मुझ में इतनी शक्ति, इतनी दृढ़ता हो कि मैं समाज की, मैत्री की, स्नेह की कमी और आवश्यकता का कभी अनुभव न करूँ, प्रत्युत उस की उपेक्षा करता हुआ, उस की ईर्ष्या का पात्र हो कर चला जाऊँ !

"पर यह बात भी नहीं हो सकी। मेरा काम भी तो ऐसा था कि नित्य ही लोगों से मिलना पड़ता, उन से आश्रय माँगना पड़ता, भिक्षा माँगनी पड़ती...मैं स्नेह नहीं माँगता था, तो भी यह अपने-आप से नहीं छिप सकता था कि उस को पाने का अधिकारी हो कर भी मैं वंचित हूँ।

"बहुत दिनों तक मैं भरसक प्रयत्न करता रहा, देखते हुए भी अन्धा बना रहा...फिर एक दिन एकाएक मेरी सहनशीलता टूट गयी। किस कारण, यह नहीं कहूँगा। मैं एकाएक उठा, और जिस कोठरी में सोया था, उस का किवाड़ खोल कर बाहर निकल गया। बाहर वर्षा हो रही थी, उस की ठंडी बूँदों से मेरा दिमाग़ कुछ स्थिर हुआ तो मैं सोचने लगा, कहाँ जाऊँ ? संसार में ऐसा कोई नहीं था, जिस के पास जा कर मैं किसी अधिकार से कह सकता, "मुझे स्थान दो !"

कनक अपनी बड़ी-बड़ी आँखें वृद्ध पर गड़ा कर बोली, "क्यों, तुम्हारे कोई सखा नहीं थे ?"

"मेरे सखा ? मेरे मित्र ? कनक, गरीब का दुनिया में कोई सखा नहीं होता..."

गंगाधर क्षण भर के लिए चुप हो गया, फिर कहने लगा, "पहले तो मेरे जी में आया, इन सबों को चिढ़ाऊँ, गाली दूँ, मारूँ, इन सब का गला घोंट डालूँ, ताकि अगर वे मेरे प्रति स्नेह नहीं कर सकते तो मुझसे शत्रुता ही करें, इस प्रकार स्तिमित हो कर न रह जायें ! फिर उसी वक्त मैंने अनुभव किया,

वह केवल जी की जलन है, इस के आगे झुकना नीचता होगी। इसलिए मैंने अपने-आप को उस पुराने संसार से अलग कर देने का निश्चय कर लिया। सुन रही हो न, कनक ?"

"हाँ, हाँ, फिर क्या हुआ ?"

"फ़िर मैं यहाँ चला आया। इस बात को आज पचीस साल हो गये हैं ! मेरा असली नाम अनन्त था, पर यहाँ आ कर मैंने अपना नाम गंगाधर रखा, और खिलौने बना कर बेचने लगा। पहले मेरे खिलौने बहुत चलते थे, पर अब धीरे-धीरे उन की क़द्र घट गयी है। अब तो जिधर देखो विलायती मोटर गाड़ियों, हवाई जहाज़ों, और गुड़ियों की धूम है। इसी लिए मेरा यह हाल हो गया है !"

"पर मेरे पास तो ऐसे ही खिलौने हैं !"

गंगाधर ने एक लम्बी साँस ले कर कहा, "हर एक लड़की कनकवल्ली तो नहीं होती !"

कनक इस सीधी-सादी प्रशंसा से प्रसन्न हो गयी। बोली, "अगर मुझे पहले मालूम होता तो मैं और खिलौने भी ले लेती।"

वृद्ध हँस पड़ा। फिर कहने लगा, "अब कहानी समाप्त करता हूँ, तुम घर चली जाना। अब मेरी यह दशा हो गयी है कि मैं इस घर का किराया भी नहीं दे सकता। इसी लिए अब छोड़ कर जा रहा हूँ।"

"कहाँ जाओगे ?"

"पता नहीं।"

"क्या करोगे ?"

"पता नहीं।"

"फिर वापस आओगे ?"

"पता नहीं।"

बालिका हँसने लगी। बोली, "कुछ पता भी है ?"

गंगाधर फिर हिन्दी में बातें करने लगा। "चला तो जाऊँगा, पर वह भूख कहाँ मिटेगी ? अब मैं बूढ़ा हो गया, अब बदलना मेरे लिए सम्भव नहीं

है। और फिर मेरी भूख तो नयी नही है, लाखो वर्षों की सस्कृति और मनश्चालन से उत्पन्न एक प्रवृत्ति है। पृथ्वी पर मनुष्य का आविर्भाव हुए करोडों वर्ष हो गये, और इन करोडो वर्षो से बिना किसी बाधा के हमारे हृदयो मे व्यक्तिगत स्वत्व का भाव जाग्रत् रखा गया है। और उस से भी पूर्व जब हमारे पुरखो ने अभी मनुष्यत्व नही प्राप्त किया था, तब भी यह स्वत्व-भाव पशुओ मे था. इन असख्य वर्षों से जो भाव हमारे मन मे घर किये है, जिस की रूढि असख्य वर्षो से हमारे मन को बाँधे हुए है, उसे विवेक के एक क्षण मे, एक दिन मे, एक वर्ष मे—एक समूचे जीवन मे भी समूल उखाड फेकना हमारे लिए सम्भव नही है। विवेक द्वारा स्वत्व-भाव को दबा कर भी हम इस अस्फुट आकाक्षा के विद्रोह को नही दबा सकते.."

बालिका इतनी देर से चुप बैठी थी। अब बोली, "गगाधर!"

"क्या है, कनक? मेरी बात नही समझी? मै बीच-बीच मे अपनी भाषा बोलने लग जाता हूँ।"

"एक बात कहूँ—मानोगे?"

"कहो?"

"हमारा घर छोड कर मत जाओ।"

"क्यो? और फिर रहूँ कैसे?"

"मै पिताजी से कहूँगी, वे किराया कम कर लें, या न ही ले। तुम खिलौने बनाया करना और बेचा करना। मै भी मदद करूँगी। बोलो, रहोगे न?"

गंगाधर उस के इस आग्रह का सहसा कोई उत्तर न दे सका। उसने मुँह खिडकी से बाहर कर लिया, ताकि कनक उस की आँखो के आँसू न देख सके।

बहुत देर तक दोनो ऐसे ही चुप बैठे रहे।

फिर गंगाधर बोला, "कनक, तुमने आज से पहले मुझे क्यो नही कहा? तब शायद..."

"आज से पहले मुझे कभी इधर आना ही नही मिला। आज जब पिता जी ने कहा कि तुम चले जाओगे, तब मै तुम्हें देखने चली आयी थी।"

"तुम मुझे क्यों रहने को कहती हो?"

"मुझे तुम्हारे खिलौने, और तुम्हारी कहानियाँ, और तुम बहुत अच्छे लगते हो।"

वृद्ध एक लम्बी साँस ले कर चुप रहा। थोडी देर बाद कनक ने फिर पूछा, "गगाधर, रहोगे न ?" कह कर वह अपना कपोल धीरे-धीरे वृद्ध के घुटने पर मलने लगी।

गगाधर का हृदय द्रवित हो गया। वह बोला, "कनक, पता नही अब रह सकूँगा कि नही ..पर तुम इतना कहती हो, तो यत्न करूँगा..."

"नही, ऐसे नही। वायदा करो, नही जाओगे।"

वृद्ध चुप रहा। कनक फिर बोली, "मेरी बात नही मानोगे ? कह दो, नही जाओगे।"

"अच्छा, जैसे तुम कहो।"

"नही, कहो, वायदा करता हूँ, नही जाऊँगा।"

"अच्छा, वायदा करता हूँ, नही जाऊँगा। लो अब तुम दौड कर घर चली जाओ, बहुत देर हो गयी है।'

"अच्छा, कल फिर आऊँगी। तुम जाना मत।" कह कर बालिका भाग गयी।

गगाधर खिडकी के चौखट पर सिर रख कर बैठ गया, उस का दुबला शरीर अन्तर्दाह से हिलने लगा। इसी समय उसने दूर पर एक स्त्री का क्रुद्ध स्वर सुना, "क्यो री, चुडैल, कहाँ गयी थी ?" और उस के बाद ही कनक के रोने की आवाज़...

वह एकाएक उठ कर दीपक के पास आ कर खडा हो गया। बोला, "मै किस विडम्बना में अपने-आप को भुला रहा हूँ। पचास वर्ष तक जो नही मिल सका, उस के मोह मे आज भी पागल हो रहा हूँ ! और आज भी, वह कहाँ मिला है ? एक बच्चे का अस्थायी चापल्य...अगर कल वह चली गयी, या विमुख हो गयी, या भूल ही गयी, तो ? गगाधर, तुम पागल हो गये हो। तुम्हारे हृदय मे, तुम्हारी नस-नस मे, जो जीवन की तीक्ष्णता नाच रही है, उस को तुम एक सामान्य और क्षण भगुर आनन्द में कैसे भुला दोगे ? तुम्हें

चाहिए एक अशान्तिमय उपद्रव---या कुछ नही! हटाओ इस मोह-जाल को!"

गगाधर ने एक बहुत लम्बी साँस ले कर चारो ओर देखा। फिर एक कागज़ के टुकडे पर पेसिल से तमिल अक्षरो मे लिखा, "मेरे सब खिलौने कनकवल्ली के लिए है।" और उसे खिलौनो के ढेर पर रख दिया। फिर क़िवाड से बाहर एक बार सीढ़ियो की ओर झाँक कर देखा, फिर वापस आ कर दिये के सामने खडा हो गया।

गगाधर एक क्षण दिये की ओर देखता रहा, फिर फूँक से उसे भी बुझाकर टूटे हुए स्वर मे बोला, "अब आगे अँधेरा है, अनन्त!"

दिसम्बर, १९३३

विपथगा

वह मानवी थी या दानवी, यह मै इतने दिन सोच कर भी नही समझ पाया हूँ। कभी-कभी तो यह भी विश्वास नही होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी, स्वप्न नही। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह टूटी तलवार देखता हूँ, तो हठात् उस की सत्यता मान लेनी पडती है। फिर भी अभी तक यह निर्णय नही कर पाया कि वह मानवी थी या नही. .

उस के शरीर मे लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौन्दर्य की आभा थी, ओठो पर एक दबी हुई, विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उस की आँखे! उन मे अनुराग, विराग, क्रोध, विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नही था। थी केवल एक भीषण, तुषारमय, अथाह ज्वाला!

मनुष्य की आँखो मे ऐसी मृतवत् जडता के साथ ही ऐसी जलन हो सकती है, यह बात आज भी मेरे गुमान मे नही आती। किन्तु आज एक वर्ष बीत जाने पर भी, मै जब कभी उस का ध्यान करता हूँ, उस की वे आँखे मेरे सामने आ जाती है। उस की आकृति, उस का वर्ण, उस की बोली, मुझे कुछ भी याद नही आता, केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पडते है...रात्रि के अन्धकार मे जिधर आँख फेरता हूँ उधर ही, स्फटिक मणि की तरह, नीले आकाश मे शुक्र तारे की तरह, हरित ज्योतिमय उस के वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष हो कर मुझ पर अपनी दृष्टि गडाये रहते है ..

मै भावुक प्रकृति का आदमी नही हूँ। पुराने फैशन का एक दम साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल में इतिहास के अध्यापक का पद है। मै सिनेमा-थियेटर देखने का शौकीन नही हूँ, न मेरा कविता में ही मन लगता है। मनोरजन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियो के इतिहास पढ लिया करता हूँ। एक-आध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये है। इस से अधिक कुछ नही कर सकता, क्योकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है, तब कभी-कभी पुराने अस्त्र-शस्त्र के

सग्रह मे लग जाता हूँ । बडी मेहनत से मैने इन का एक सग्रह किया है । जिस कटार से सम्राट् पीटर ने अपनी प्रेमिकाओ की हत्या की थी, उस की मूँठ मेरे सग्रह मे है, जिस प्याले मे कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उस का एक खड, जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्क-एजेल के गवर्नर को मारा था, उस का खाली कारतूस; जिस घोडे पर सवार हो कर नेपोलियन मॉस्को से भागा था, उस की एक नाल, और नेपोलियन की जैकट का एक बटन भी मेरे सग्रह मे है । ऐसा संग्रह शायद पेरिस मे दूसरा नही है—शायद मॉस्को मे भी नही था...

पर जो बात मै कहना चाहता था, उस से भटक गया । हॉ, मै भावुक प्रकृति का नही हूँ । मेरी रुचि इसी सग्रह मे, या कभी-कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बाते मै नही जानता । फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में उसी तरह उथल-पुथल मचा गयी, जिस तरह एक उद्यान मे झञ्झावात । उस दिन से न जाने क्यो एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय मे घर कर लिया है । जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पडती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक से कम्पायमान ध्वनि मेरे कानो मे गूँज उठती है ·

"दीप बुझता है तो धुआँ उठता है । किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीडित, अनाश्रित कृषक-कुटुम्ब सडको पर भटक-भटक कर हेमावृत धरती पर बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगते है, जब उन के हृदय मे सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नही उठती । न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पडी रहती है—पडी रहेगी !—किन्तु किसी दिन, सुदूर भविष्य मे, किसी घोर झञ्झा से, उस में फिर चिनगारी निकलेगी ! उस की ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला !—किधर फैलेगी, किस को भस्म करेगी, किन नगरो और ग्रामो का मान-मर्दन करेगी—कौन जाने ?"

मुझे रोमाच हो आता है, मै मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट हो कर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ...

रात्रि के आठ बज रहे थे । मै मॉस्को मे अपने कमरे मे बैठा लैम्प के

प्रकाश मे धीरे-धीरे कुछ लिख रहा था। पास मे एक छोटी मेज पर भोजन के जूठे बर्तन पडे थे। इधर-उधर दीवार पर टँगी या अगीठी पर रखी हुई मेरे सग्रह की वस्तुएँ थी।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज आ रही थी, उस से मैंने अनुमान किया कि ओले भी पड रहे हैं, किन्तु उस जाडे मे उठ कर देखने की सामर्थ्य मुझ मे नही थी। कभी-कभी लैम्प के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मै बिल्कुल एकाग्र हो कर दूसरे दिन पढने के लिए 'सफल क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

'सफल क्रान्ति क्या है? असख्य विफल जीवनियो का, असख्य निष्फल प्रयत्नो का, असख्य विस्मृत आहुतियो का, अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष!'

(उन दिनो मै मॉस्को के एक स्कूल मे अध्यापक था। वही इतिहास पढाने मे और कभी-कभी क्रान्तिविषयक लेख लिखने मे तथा पढने मे मेरा समय बीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मै समझता था या नही, यह नही कह सकता। आज मै क्रान्ति के विषय मे अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ!)

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने बैठे ही बैठे उत्तर दिया, "आ जाओ!" और लिखने मे लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज आने लगी—कमरे मे निस्तब्धता छा गयी। मैंने कुछ विस्मित हो कर आँख उठायी, और उठाये ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बडे-बडे बालो वाली टोपी रखे, गले में लाल रुमाल बाँधे, दरवाजे के पास खडी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उस के कपडे भीगे हुए थे, टोपी मे कही-कही एक-आध ओला फँस गया था। पैरो मे उसने घुटने तक पहुँचने वाले बडे-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड मे सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रुमाल के कारण उस के मुँह का बहुत थोडा भाग दीख पडता था। इस प्र[illegible]र [illegible] पर भी उस के शरीर मे एक लचक, और साथ ही एक खिंचाव का आभास स्पष्ट

होता था, मानो कपडो से ढँक कर एक तने हुए धनुष की प्रत्यचा सामने रख दी गयी हो। आँखे नही दीखती थी, किन्तु उन ओठो की पतली रेखा देखने से भावना होती थी कि उस के पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है...

मै क्षण भर उस की ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नही। मैने ही मौन भग किया, "कहिए, क्या आज्ञा है ?" कोई उत्तर नही मिला। मैने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हूँ ?"

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौल कर रखा हो, "मैने सुना था कि क्रान्तिकारियो से आप को सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये है। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आयी हूँ।"

मै काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है, और क्रान्तिकारियों तक को इस का ज्ञान है, फिर मुझ मे और क्रान्तिकारियो मे भेद क्या है ? कही यह मॉस्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नही है ? मेरी नौकरी.. शायद साइबेरिया की खानो मे आयु भर ..पर अगर यह जासूस होती, तो ऐसी दशा मे क्यो आती ? ऐसे बात क्यो करती ? इस से तो साफ सन्देह होने लगता है...जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती ..पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने का शायद इस का यही ढंग हो, सँभल कर बात करनी होगी।

मैने उपेक्षा से कहा, "आप साफ-साफ कहिए, बात क्या है ? मै आप का अभिप्राय नही समझा।"

वह बोली, "मै क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ धन की आवश्यकता है। आप दे सकेगे ?"

"किस लिए ?"

वह कुछ देर के लिए असमजस मे पड गयी, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नही। फिर उसने धीरे-धीरे ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरजित तलवार!—निकाली। इतनी देर मे उसने

आँख पल भर भी मुझ पर से नही हटायी । मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तरतम विचारो को भाँप रही हो । मैं भी मुग्ध हो कर देखता रहा...

वह बोली, "यह देखो ! जानते हो, यह किस का रक्त है ? कर्नल गोरोव्स्की का ! और उस की लोथ उस के घर के बाग मे पडी हुई है !"

मै भौचक हो कर बोला, "है ? कब ?"

"अभी एक घटा भी नही हुआ । उसी की तलवार, इन हाथो ने उसी के हृदय मे भोक दी ! तुम पूछोगे, क्यो ? शायद तुम्हे नही मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है !"

"तुम यहाँ क्यो आयी ?"

"मुझे धन की जरूरत है । मॉस्को से भागने के लिए ।"

"मै तुम्हारी सहायता नही कर सकता । तुम हत्यारिणी हो !"

वह एकाएक सहम-सी गयी, मानो उसे इस उत्तर की आशा न हो । फिर धीरे-धीरे एक फीकी, विषादमय हँसी हँस कर बोली, "बस, यही तक थी तुम्हारी सहानुभूति ! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासो का निष्कर्ष है !"

"मै क्रान्तिवादी हूँ, पर हत्यारा नही हूँ । इस प्रकार की हत्याओ से देश को लाभ नही, हानि होगी । सरकार ज्यादा दबाव डालेगी, मार्शल लॉ जारी होगा, फाँसियाँ होगी । हमारा क्या लाभ होगा ?"

"तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुडियो का खेल ?" यह कहती हुई वह मेरी [illegible] । मेज़ पर पडे हुए कागजों को देख कर बोली, "यह क्या, 'सफल क्रान्ति ! असख्य विफल जीवनियो का... विस्मृत आहुतियो का निष्कर्ष !"

वह ठठा कर हँसी । "सफल क्रान्ति ! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पडती है ?'

मै कुछ उत्तर न दे सका । मै उसे वह लेख पढते हुए देख कर झेप रहा था ।

वह फिर बोली, "तुम भी अपने-आप को क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी । किन्तु हमारे आदर्शो मे कितना भेद है ! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के नाम

पर विश्व जीत कर उस पर शासन करना, और हम !—हम इसी की चेष्टा मे लगे है कि अपने हृदय इतने विशाल बना सके कि विश्व उन मे समा जाय !"

मैंने किसी षड्यन्त्र मे भाग नही लिया है—क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नही किया है, फिर भी मै अपने सिद्धान्तो पर आक्षेप नही सह सका। मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मै सच्चा साम्यवादी हूँ। मै चाहता हूँ कि ससार मे साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नही होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उस के लिए अगर यह करना पडता हो, तो मै उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इस के लिए अगर प्राण भी—"

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम ? सूर्य का उदय होता है, उस को रोकने की चेष्टा की है ? समुद्र मे प्रलय लहरी उठती है, उसे रोका है ? ज्वालामुखी मे विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है ? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक [illegible] प्रलय से भी अधिक भयकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है...उसे क्या रोकोगे !"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्त्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।"

"क्या कर्त्तव्य ? लेक्चर झाडना ?"

"देश मे अपने विचारो का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिसात्मक क्रान्ति ! जो भूखे, नगे, प्रपीडित है, उन को जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ ! रूस की भयकर सर्दी में बर्फ के नीचे दब जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुष के रास्ते मे न आ जाय ! रोते हुए बच्चो से कहोगे, माना की छातियो की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खा कर भूख मिटाओ ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देख कर मन ही मन हँसेगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड मे निर्धनो का रक्त चूस कर ले जायेगे ! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिस का तुम्हे इतना अभिमान है।"

"अगर शासक अत्याचार करेगे, तो उन के विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।"

"धर्म ? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो ? वही धर्म, जिस के नाम पर तुम स्कूल मे इतिहास पढाते समय इतने झूठ बकते हो ?"

मैंने क्रुद्ध हो कर कहा, "व्यक्तिगत आक्षेपो से कोई फायदा नही है। ऐसे तो मै भी पूछ सकता हूँ, तुम्ही ने कौन बडा बलिदान किया है ? एक आदमी को मार कर भाग आयी, यही न ?"

मुझे उस पर बडा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ मे तलवार लिये, दानवी की तरह खडी मेरी ओर देख रही थी, उसे देख कर मेरा साहस ही नही पडा कि उसे निकाल दूँ ! मै प्रश्न पूछ कर उस की ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझ पर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबरायेगी, क्रुद्ध होगी। किन्तु यह सब कुछ भी नही हुआ। वह धीरे से कागज हटा कर मेरी मेज के एक कोने पर बैठ गयी, और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली, "मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम ? मैंने बलिदान कोई बडा नही किया, लेकिन देखा बहुत कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोवृस्की का पता किसी को नही लगा होगा। सुनोगे तुम ?"

पहले मैंने सोचा, सुन कर क्या करूँगा ? अभी लेख लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूँ, चली जाय। लेकिन फिर एक अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदयहीनता पर ग्लानि-सी हुई। मैंने उठ कर अंगीठी मे कोयले हिला कर आग तेज़ कर दी, एक और कुरसी उठा कर आग के पास रख दी, और अपनी जगह बैठ कर बोला, "हाँ, सुनूँगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठ कर सुनाओ, सर्दी बहुत है।"

वह वही बैठी रही, मानो मेरी बात उसने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रख कर, कुछ आगे की ओर झुक कर आग की ओर देखने लगी। थोडी देर देख कर चौक कर बोली, "हाँ सुनो। मैंने घर मे आरामकुर्सी पर बैठ कर यन्त्रालयो में पिसते हुए श्रमजीवियो के लिए साम्यवाद पर लेख नही लिखे है। न मैंने मच पर खडे हो कर कृषको को जबानी स्वातन्त्र्य-युद्ध की

मरीचिका दिखलायी है । मैने घर-बार, माता-पिता, पति तक को छोड कर धक्के ही धक्के खाये है । सौभाग्य बेच कर अपने विश्वास की रक्षा की है । स्वत्त्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है ..और—और अपना स्त्री रूप बेच कर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ ।"

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया, "किस से ?"

इस प्रश्न से मानो उस की विचार-श्रृंखला टूट गयी । तलवार की ओर देखती हुई बोली, "यह फिर बताऊँगी—वह मेरे अन्तिम—मेरे एकमात्र बलि-दान की कहानी है ।"

"विश्वास और स्वत्त्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे कुछ भी समझ नही आया ।"

"मेरे पिता पीटर्सबर्ग मे पुलिस विभाग के सदस्य थे । मेरे पति भी वहाँ राजनैतिक विभाग मे काम करते थे । कुटुम्ब मे, वश मे, एक मै ही थी, जिसने क्रान्ति का आह्वान सुना...फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पडा ! पहले-पहल जब मै क्रान्तिदल मे आयी, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गये । न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया, इसका पिता पुलिस मे है, [illegible], इस से विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है ? मैने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मै अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ .. मेरे पति को भी मेरी वृत्तियो का पता लग गया । फलस्वरूप एक दिन मै चुपचाप घर से निकल गयी—उन्हे भी नौकरी छिन जाने का डर था ! उस के बाद—उस के बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा ! पति को छोड देने पर भी मुझे सदस्य नही बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया । कितनी भयकर थी वह !"

क्षण भर आग की ओर देखने के बाद फिर उसने कहना शुरू किया : "मै और चार और व्यक्ति पिस्तौल ले कर एक दिन सायकाल को निकोलस पार्क में बैठ गये । उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग को पुलिस दो बन्दियो को ले कर जाने वाली थी । इसी पर वार कर के बन्दियो को छुडाने का काम हमारे सुपुर्द हुआ था । यही मेरी परीक्षा थी !

"हम रात तक वही बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटो की आहट आयी। हम सावधान हो गये। किसी ने पूछा, 'कौन बैठा है?' हमने उत्तर नही दिया, गोलियाँ दागनी शुरू कर दी। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया—हमारे तीन आदमी खेत रहे, पर हमे सफलता हुई। बन्दी मुक्त हो गये। हम चारो शीघ्रता से पार्क से निकल कर अलग हो गये।"

मै बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैने कभी नही सुनी थी—पढी भी नही थी...मैने व्यग्रता से पूछा, "फिर?"

"दूसरे दिन—दूसरे दिन मॉस्को मे अखबार मे पढा, बन्दियो को ले कर जानेवाले अफसर थे—मेरे पिता!"

उस छोटे-से कमरे मे फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी। मै विमनस्क-सा हो कर छत पर पड रही बूँदे गिनने की चेष्टा करने लगा।

उसने पूछा, "और कुछ भी सुनोगे?"

मैने सिर झुका कर उत्तर दिया, "मैने तुम लोगो पर अन्याय किया है। वास्तव मे तुम्हे बहुत उत्सर्ग करना पडता है। मै अभी तक नहीं जान पाया था।"

"हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुःख हम समझ सकते है। एक प्राणी को पीडित देख कर हमारे हृदय मे सहानुभूति जगती है—एक हूक-सी उठती है. किन्तु जाति, देश, राष्ट्र, ! कितना विराट् होता है! इस की व्यथा, इस के दुःख से असख्य व्यक्ति एक साथ ही पीडित होते है—इस मे इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नही समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है, हो भी रही है या नही।"

"ठीक है। तुम्हे बहुत दुःख झेलने पडते है। किन्तु इस प्रकार अकारण दुःख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय, बुद्धिमता तो नही है।"

"हमारे दुःख प्रसव-वेदना की तरह है, इस के बाद ही क्रान्ति का जन्म होगा। इस के बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल प्राप्ति की आशा करना विडम्बना मात्र है।"

"लेकिन हर आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है, ऐसे तो

नहीं बढ़ता ?"

"क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।"

"सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है ?"

"क्रान्ति सुधार नहीं है।"

"न सही। परिवर्त्तन ही सही। लेकिन परिवर्त्तन का भी तो ध्येय होता है !"

"क्रान्ति परिवर्त्तन भी नहीं है।"

मैंने सोचा, पूछूँ, तो फिर क्रान्ति है क्या ? किन्तु मैं बिना पूछे उस के मुख की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली, "क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्त्तन कुछ भी नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट ! इस का न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्ध-कारिणी है !"

"ये तो सब बातें हैं। कवियों वाला शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमें मिलेगा क्या ?"

वह हँसने लगी। "क्रान्ति से क्या मिलेगा ? कुछ नहीं। जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायगा। पर इस से यह नहीं सिद्ध होता कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान भी नहीं करना चाहिए कि हमें क्रान्ति कर के क्या मिलेगा।"

"क्यों ?"

"कोढ़ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुड़ा दो। यह नहीं पूछता कि इस रोग को दूर कर के इस के बदले मुझे क्या दोगे ! क्रान्ति एक भयंकर औषध है, यह कड़वी है, पीड़ाजनक है, जलानेवाली है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इस के बाद, स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इस में खोजने पर निराशा ही होगी, इस के लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।"

मैं निरुत्तर हो गया। चुपचाप उस के मुख की ओर देखने लगा। थोड़ी

देर बाद बोला, "एक बात पूछूँ ?"

"क्या ?"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"क्यो ?"

"यो ही । कुतूहल है ।"

"पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह हुआ । पति ने जो नाम दिया था, उसे मै आज भूल गयी हूँ । अब मेरा नाम मेरिया इवानोव्ना है ।"

कुछ देर हम फिर चुप रहे । मैने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, "यह—यह कैसे हुआ ?"

उस के उन विचित्र नील नेत्रो की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी । वह अपने हाथो की ओर देखती हुई बोली, "वह बहुत वीभत्स कहानी है ।" फिर आप ही आप, "नही, रक्त नही लगा है ।"

कुतूहल होते हुए भी मैने आग्रह नही किया । इतनी देर मे मै कुछ-कुछ समझने लगा था कि इस स्त्री (या दानवी ?) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है, इस पर उस का कुछ भी प्रभाव नही पडेगा । मैं चुपचाप इसी आशा मे बैठा रहा कि शायद वह स्वय ही कुछ कह दे । मुझे निराश भी नही होना पडा ।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली, "तो सुनो । आज जो-कुछ मै कह रही हूँ, वह मैने कभी किसी से नही कहा । शायद अब किसी से कहूँगी भी नही । जब मै तुम्हारा पता पूछ कर यहाँ आयी, तब मुझे जरा भी ख्याल नही था कि तुम से कुछ भी बात करूँगी । केवल धन माँग कर चले जाने की इच्छा से आयी थी । अब—अब मेरा ख्याल बदल गया है । मुझे धन नही चाहिए । मै—"

"क्यो ?"

"मै अपना काम कर के मॉस्को से भाग जाना चाहती थी । किन्तु अब नही भागूँगी ।"

"और क्या करोगी ?"

"अभी एक काम बाकी है। एक बार और भिक्षा माँगनी है। उस के बाद—"

वह एकाएक रुक गयी। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप ही आप बोली, "कितनी तीक्ष्ण धार है यह!"

मैंने साहस कर के पूछा, "भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी, और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नही पाया था।"

"अब कहने लगी हूँ, तो सब कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नही रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गयी! और फिर—आज के बाद—सब कुछ एक हो जायेगा। पर तुम चुपचाप सुनते जाओ, बीच मे रोकना नही।"

मै प्रतीक्षा मे बैठ रहा। वह इस तरह निरीह हो कर कहानी कहने लगी, मानो स्वप्न मे कह रही हो—मानो मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

"तुमने माइकेल क्रेस्की का नाम सुना है?"

"वही जो पीटर्सबर्ग मे पुलिस के तीन अफसरो को मार कर लापता हो गये थे?"

"हाँ, वही। वह हमारी सस्था के प्रधान थे।" यह कह कर उसने मेरी ओर देखा। मै कुछ नही बोला, किन्तु मेरे मुख पर विस्मय का भाव उसने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी, "वह कल यही मॉस्को मे गिरफ्तार हो गये है।"

क्षण भर नि स्तब्धता रही।

"पर उन को गिरफ्तार करके ले जाने पर भी पुलिस को यह नही पता लगा कि वह कौन है। वह इसी सन्देह पर गिरफ्तार किये गये थे कि शायद क्रान्तिकारी हों। मुझे इस बात की खबर मिली, तो मैंने निश्चय किया कि जा कर पता लगाऊँ। मै यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहन कर पुलिस विभाग के दफ्तर मे गयी। वहाँ जा कर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मै उनकी बहिन हूँ, गाँव से उन्हे लेने आयी हूँ! तब तक पुलिस को उन पर कोई सन्देह नही हुआ था। लेकिन इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछ-

ताछ हो रही थी।

"पहले तो मैंने सोचा कि पीटर्सवर्ग से अपने साथियो को बुला भेजूँ, उन से मिल कर उन्हे छुडाने का प्रयत्न करूँ। लेकिन इस के लिए समय नही था—न जाने कब उन्हे पीटर्सवर्ग से उतर आ जाय! मैं अकेली सिवाय अनुनय-विनय के कुछ नही कर सकती थी .उफ! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आता था। मै दाँत पीस कर रह गयी .जब तक ऐसे समय मे अपनी असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नही होता, तब तक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी तरह से नही समझ आ सकती।"

मेरी ओर देख और मुझे ध्यान से सुनता पा कर वह फिर बोली

"फिर—फिर मैंने सोचा, जो कुछ मै अकेले कर सकती हूँ, वह करना ही होगा! अगर गिडगिडाने से उन्हे छुडा सकूँ तो यह करना होगा, चाहे बाद मे मुझे फाँसी पर भी लटकना पडे! मैंने निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गयी। कल ही शाम को मै जनरल कोल्पिन के बँगले पर गयी। उस समय वहाँ कर्नल गोरोव्स्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाना ही नही मिला, दरबान ने जो कुछ मेरे पास था, तलाशी मे निकाल कर रख लिया। बहुत गिडगिडा कर मै अन्दर जा पायी!

"पहले जनरल कोल्पिन ने मुझे देखकर डॉट दिया। फिर न जाने क्या सोच कर बोला, 'क्यो क्या बात है?' मैंने अपनी गढी हुई कहानी कह सुनायी कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यो ही उसे पकड लिया। जनरल साहब बहुत बडे आदमी हैं, सब कुछ उन के हाथ मे है, जिसे चाहे उसे छोड सकते है.. मै उस के आगे रोयी भी, उस के पैर भी पकडे—उस के जिसकी मै ज़बान खीच लेती!

"वह चुपचाप सुनता रहा। जब मै कह चुकी, तब भी कुछ नही बोला। थोडी देर बाद उसने आँख से गोरोव्स्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोव्स्की ने मुझे कहा, 'इधर आओ, तुम से कुछ बात करनी है।' मै उस के साथ दूसरे कमरे मे चली गयी। वहाँ जा कर वह बोला, 'देखो, अभी सब कुछ हमारे हाथ मे है, पर कल के बाद नही रहेगा। हमे उसे अदालत

मे ले जाना होगा । फिर—'

"यह कह कर वह चुप हो गया । मैने कहा, 'आप मालिक है, जैसा कहेंगे मैं करूँगी ।' वह बोला, 'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तैयार है—एक शर्त पर ।' मैने उत्सुक हो कर पूछा, क्या ? वह मेरे बहुत पास आ गया । फिर धीरे-धीरे बोला, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो'..."

वह बोलते-बोलते चुप हो गयी । मैने सिर उठा कर उस की ओर देखा, उस की आँखे विचित्र ज्योति से चमक रही थी । वह एकाएक मेज पर से उठ कर मेरे सामने खडी हो गयी । बोली, "जानते हो, उस की क्या शर्त थी, जानते हो ? ऐसी शर्त तुम्हें स्वप्न में भी न सूझेगी...यही एक शर्त थी, यही एक मात्र बलिदान था, जिस के लिए मैं तैयार हो कर नही गयी थी..."

वह फिर चुप हो गयी । दोनो हाथो से अपनी कमीज का कालर और गले का रुमाल पकड कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही । फिर एकाएक झटका दे कर कमीज़ और रुमाल फाडती हुई बोली, 'देखो, अध्यापक ! ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है ?"

उस का मुख, जो कि रुमाल और टोपी से ढका हुआ था, अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उस के नीचे उस का गला और वक्ष भी खुला हुआ था... उस का वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दर्य, अधरो पर दबी हुई विषादयुक्त मुस्कान, हेमवर्ण कठ और वक्ष...ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैने पहले नही देखा था...मेरे शरीर मे बिजली दौड गयी—फिर मैने दृष्टि फेर ली...

किन्तु उस की वह आँखे...विस्फारित, निर्निमेष...उन का वह तुषार-कणो की तरह शीतल प्रदीपन...उन मे विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति ..वह शुक्रतारे की हरित ज्योति...!

"यह है बलि ! यह स्त्री का रूप है माइकेल क्रेस्की की मुक्ति का मूल्य !"

मैने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज़ नही निकली !

"उसने, उस नर-पिशाच गोरोव्स्की ने, मेरे पास आ कर कहा, 'मेरिया इवानोव्ना तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिये अपने भाई को छुडा लेना

साधारण-सी बात है' . मुझ पर मानो बिजली गिरी। क्षण भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरो की तरह मेरे हृदय मे क्रोध उमड आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा, 'पापी ! कुत्ते !' और तीव्र गति से बाहर निकल गयी। किन्तु पीछे उस को हँसी और ये [illegible] [illegible] पडे—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उस के बाद—'

"बाहर ठडी हवा मे आ कर मेरी सुध कुछ ठिकाने आयी। मैं शान्त हो कर सोचने लगी, मेरा कर्त्तव्य क्या है ? माइकेल क्रेस्की का गौरव अधिक है या .उन्हे मर जाने दूँ ? कभी नही ! छुडाऊँ तो कैसे ? इसी आशा में बैठ रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे ? प्रतारणा ! कही वे उन्हे पहचान गये तो. ! पीटर्सवर्ग से किसी को बुलाऊँ ? पर उस के लिए समय कहाँ है ! अकेली क्या करूँगी ? वह शर्त . !

"प्रधान, हमारा कार्य, देश, राष्ट्र ! इस के विरुद्ध क्या ? एक स्त्री का सतीत्त्व...! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझ से गलती हुई; शायद इस निर्णय के लिए ससार, मेरे अपने क्रान्तिवादी बन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे, शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पडेगी...पर जो यातना मैंने निर्णय करने मे सही है, उस से अधिक नरक मे भी क्या होगा ?"

वह फिर ठहर गयी। अब की बार मुझ से नही रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा, "क्या निर्णय किया है ?"

"अभी यही से जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो, अभी मेरी कहानी समाप्त नही हुई। आज छ बजे मैं कर्नल गोरोव्स्की के घर गयी। मेरे आते ही वह हँस कर बोला, 'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्जत तो बार-बार बिगड कर भी बन जाती है, भाई बार-बार नही मिलते !' मैंने सिर झुका कर कहा, 'हाँ, आप साहब से कहला भेजे कि मुझे उन की शर्त मजूर है।'

"वह उस समय वर्दी उतार कर रख रहा था। बोला, 'तुम यही ठहरो, मैं टेलीफोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने मे टेलिफोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी। मुझे [illegible] नैने म्यान मे से उस की

तलवार निकाल ली—दबे पाँव जा कर उसके पीछे खडी हो गयी। टेलिफोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोव्स्की उसे बन्द करके घूमने को ही था कि मैंने तलवार उस की पीठ मे भोक दी! उसने आह तक नही की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर बैठ गया! फिर मैंने उस की लोश उठा कर खिडकी से बाहर डाल दी—और भाग निकली!"

मैंने पूछा, "तुम्हारे इन हाथो मे इतनी शक्ति!"

वह हँस पडी, बोली, "मै क्रान्तिकारिणी हूँ। यह देखो!"

उसने तलवार उठाई, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थाम कर बोली, "यह देखो।" देखते-देखते उसने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गयी! उसने वे दोनो टुकडे मेरी मेज पर रख दिये।

मैंने पूछा, "अब—अब क्या करोगी?"

"अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी। क्रेस्की को छुडाऊँगी। उस के बाद? उस के बाद—"

उसने अपनी जेब मे हाथ डाल कर एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला। "यह भी गोरोव्स्की के यहाँ से मिल गया।"

"पर—इस का क्या करोगी?"

"प्रयोग!" कह कर उसने उसे छिपा लिया।

इस के बाद शायद चार-पॉच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उस की सारी कहानी का मन ही मन सिंहावलोकन किया। उस मे कितनी वीभत्सता, कितनी करुणा थी! ओर उस का दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गयी। मैंने पूछा, "तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?"

वह अब तक खडी थी, अब फिर मेज़ पर बैठ गयी। बोली, "वह पुरानी बात है। उन दिनो की, जब मै पीटर्सबर्ग से भागी थी। अकेली नहीं, साथ मे एक लड़की भी थी—तुमने पॉलिना का नाम सुना है?"

"हाँ, सुना तो है। इस समय याद नही आ रहा कि कहाँ।"

"वह नोव्गोरोड् मे पकडी गयी थी—वेश्याओ की गली मे —और गोली से उडा दी गयी थी ।"

"हाँ, मुझे याद आ गया । उस के बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यो हुआ, लेकिन कुछ पता नही लगा ।"

"हाँ । उस दिन मै भी नोव्गोरोड् मे थी—उसी घर मे । हम दोनो वहाँ रहती थी । एक वेश्या के यहाँ ही । वही, नित्य प्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरो को देखते थे, गन्दे सकेत करते थे, और हम बैठी सब कुछ देखा करती थी । वहाँ, जब चूसे हुए नीबू की तरह बीमारियो से घुले हुए वे पूँजीपति साफ-साफ कपडे पहन कर इठलाते हुए आते थे—उफ ! जिसने वह नही देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का दूरव्यापी परिणाम नही समझ सकता ! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयाँ समाज मे आ जाती है—इस को जानने के लिए वह देखना जरूरी है !

"फिर वे आसपास की कोठरियो मे चले जाते थे .किसी-किसी मे अँधेरा हो जाता था...फिर..."

थोडी देर वह चुप रही । फिर बोली, "कभी-कभी उन मे एक-आध नवयुवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल...उन के आने पर वह घर और उस मे रहनेवाले—कितने विद्रूप, कितने वीभत्स मालूम होने लगते थे. किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वही मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह !

"यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी...हमे पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हे दे देती थी—ये उन्हे बाँट आते थे । नोव्गोरोड् मे हमने अपनी सस्था की शाखा इसी तरह बनायी । फिर नोव्-गोरोड् से आर्कएजेल, फिर, जेरोस्लावल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोव्गोरोड्...आर्कएजेल मे तीन गवर्नरो की हत्या हुई, जेरोस्लावल मे राज-कर्मचारियो के घर जला दिये गये, नोव्गोरोड् मे पुलिस के कई अफसर मारे गये । फिर—पॅव्लिना पकडी गयी, और मै मॉस्को मे आ गयी.. "

"पर वह पकडी कैसे गयी ?"

"वे मुहल्ले जिनमे हम रहते थे, रात ही को खुलते थे...दिन मे वे वैसे ही पडे रहते थे, जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर . पर उस दिन जरूरी काम था—पॉलिना मोटा-सा कोट पहन, मुँह ढँक कर बाहर निकली । उस की जेब मे कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल, और वह पत्र पहुँचाने जा रही थी । इसी समय—"

घडी मे टन् ! टन् ! ग्यारह बज गये । वह चौंक कर उठी और बोली, "बहुत देर हो गयी—अब मैं जाती हूँ ।"

"कहाँ ?"

"कोल्पिन के यहाँ—अन्तिम भिक्षा माँगने ।"

उसने शीघ्रता से अपने कोट के बटन बन्द किये और उठ खडी हुई । मै भी खडा हो गया ।

मैने रुक-रुक कर कहा, "स्वातन्त्र्य-युद्ध मे बहुत सिरो की बलि देनी पडती है ।" मानो मै अपने आप को ही समझा रहा होऊँ ।

वह बोली, "ऐसे स्वातन्त्र्य-युद्ध मे सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है ?"

मै चुप हो कर खडा रहा । वह कुछ हँसी, फिर बोली, "जीवन कैसा विचित्र है, जानते हो, अध्यापक ? मै आयी थी धन ले कर विलुप्त हो जाने, और चली हूँ, स्मृति-स्वरूप वह बो कर—वह अशान्ति का बीज !"

जिधर उसने सकेत किया था, मै उधर देखता ही रह गया । लैम्प और आग के प्रकाश मे लाल-लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ !

सहसा किवाड खुल कर बन्द हो गया । मेरा स्वप्न टूट गया—मैंने आँख उठा कर देखा ।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड रहे थे । किन्तु वह—वह वहाँ नही थी । था अकेला मै—और वह अशान्ति का बीज !

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ, यह फिर कहूँगा । अभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है ।

वह चली गयी । पर मै फिर अपना लेख नही लिख सका ..एक बार

मैंने कागज़ों की ओर देखा, 'सफल क्रान्ति !' दो शब्द मेरी ओर देख कर हँस रहे थे...'विस्मृत आहुतियो का शान्ति-जनक निष्कर्ष !' प्रवचना ! मैंने वे कागज़ फाड कर आग मे डाल दिये । फिर भी शान्ति नही मिली । मै सोचने लगा, इस के बाद वह क्या करेगी ? कोल्पिन के घर मे...माइकेल क्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायेंगे.. किन्तु उस के बाद ?

उस उद्धार के फल-स्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होगे ? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का ताडव ! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिए, वहाँ क्या होगा ?—एक स्त्री हृदय के टूटने की धीमी आवाज़ !

मैंने जा कर लैम्प बुझा दिया । कमरे मे अँधेरा छा गगा । केवल कही-कही अँगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पडने लगा, और उस मे कुर्सी की टाँगो की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी ! मै उसे देखते-देखते फिर सोचने लगा—इसी समय कोल्पिन के घर मे न-जाने क्या हो रहा होगा...मेरिया वहाँ पहुँच गयी होगी—शायद अब तक क्रेस्की मॉस्को की किसी गली मे छिपने के लिए चल पडे हो...वह क्या सोचते होगे कि उन का उद्धार कैसे हुआ ? मेरिया की बात उन्हे मालूम होगी ? शायद वहाँ उन का मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यो होने देगा ? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पायेगा—किसी को भी मालूम नही होगा ..असीम समुद्र मे बहते हुए एकाएक बुझ जाने वाले दीप की तरह उस की कथा वही समाप्त हो जायेगी—और मै उस का नाम तक नही जान पाऊँगा ! कैसी विडम्बना है यह !

घडी में बारह बजे । मै चौका एक अत्यन्त वीभत्स दृश्य मेरी आँखो के आगे नाच गया । कोल्पिन और मेरिया...उस दृश्य के विचार को भी मै नही सह सका ! मैंने उठ कर किवाड खोल दिये और दरवाज़े के बीच मे खडा हो कर वर्षा को देखने लगा । कभी-कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड जाता था, किन्तु मुझे उस का ध्यान भी नही हुआ । मै आँखे फाड कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदे देखने की चेष्टा कर रहा था...

पूर्व में जब धुँधला-सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत-स्वप्न टूटा ।

तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से सज्ञाशून्य हो गये है। मैंने मानो वर्षा से कहा, 'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मै किवाड बन्द कर अन्दर जा कर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अगो को गर्मी पहुँचाने के लिए कम्बल लपेट कर पड रहा...

उस दिन की घटना यही समाप्त होती है, पर उस के बाद एक-दो घटनाएँ और हुईं, जिन का इस से घनिष्ट सम्बन्ध है। वह भी यही कहूँगा।

इस के दूसरे दिन मैंने पढा, "कल रात को जनरल कोल्पिन और कर्नल गोरोवृस्की दोनो अपने घरो मे मारे गये। जनरल कोल्पिन की हत्या एक स्त्री ने रिवाल्वर से की। उन को मारने के बाद उसने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल गोरोवृस्की घर मे तलवार से मारे पाये गये। कहा जाता है कि उन की अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनो गायब है। जिस रिवाल्वर से [illegible] गयी, उस पर गोरोवृस्की का नाम लिखा हुआ है, इस से अनुमान किया जाता है कि गोरोवृस्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस जोरो से अनुसन्धान कर रही है, लेकिन अभी इस के रहस्य का कुछ पता नही लगा है।"

क्रेस्की का कही नाम भी नही था।

यह रहस्य आज भी नही खुला। हाँ, इस के कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लडते हुए मारे गये...

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नही ज्ञात हुआ कि वे मॉस्को से उस दिन आधी रात के समय क्यो एकाएक छोड़ दिये गये...

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय मे बोया गया था, वह नही दब सका। जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की मारे गये, उस दिन मेरी धमनियो मे रूसी रक्त खौल उठा...क्रेस्की के कारण नही, किन्तु मेरिया के शब्दो की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल मे एक व्याख्यान दिया, जिस में जीवन मे पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था ..

इस के बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के

पोषको के लिए रूस मे स्थान नही था !

आज मै पेरिस मे रहता हूँ। मॉस्को की तरह अब भी मै अध्यापन का काम कर रहा हूँ, किन्तु अब उस मे मेरी रुचि नही है। आज भी मै क्रान्ति-विषयक पुस्तको का अध्ययन करता हूँ, किन्तु अब पढते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह सग्रह उसी भाँति पडा है, किन्तु अब उस की सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार ! हाँ, अब मैने व्याख्यान देना छोड दिया है—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय मे घर किये रहती है....

ज्वालामुखी से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावा के काले-काले पत्थर पडे रह जाते है। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षो की टूटी हुई शाखे सूखती रहती है। नदी मे पानी चढता है और उतर जाता है, किन्तु उस के प्रवाह से एकत्रित घास-फूस, लकडी, किनारे पर सड़ती रह जाती है। वह टूटी तलवार भी उस के आवागमन का स्मृति-चिन्ह है। जब भी इस की ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते है, मै सहसा पूछ बैठता हूँ, "मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थी, या दानवी, या स्वर्ग-भ्रष्टा विपथगा देवी ?"

सितम्बर, १९३१

अकलंक

वे दोनो उस टीले की चोटी पर खडे थे । चारो ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीले के नीचे घहराता हुआ ह्वांग-हो नदी का प्रवाह था, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नज़र आता था ।

वे दोनो वर्षा की तनिक भी परवाह न करते हुए टीले के शिखर पर खडे थे ।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रा मे खडा था ।

स्त्री ने एक बडी-सी खाकी बरसाती मे अपना शरीर लपेट रखा था । उस के वस्त्राभूषण कुछ भी नही दीख पडते थे । उसने वेदना-भरे स्वर में कहा, "मार्टिन, तुम्हे भी अपना घर डुबा देना होगा । मेड काट देना, नदी स्वयं भर आयेगी ।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा । फिर बोला, "क्रिस, क्या इस के अतिरिक्त कोई उपाय नही है ?"

स्त्री ने चौक कर कहा, "मार्टिन, यह क्या ? सेनापति की जो आज्ञा है, उस का उल्लघन करोगे ?"

"उल्लघन नही । लेकिन अगर बिना शत्रु को आश्रय दिये ही घर बच जाय, तो क्यो न बचा लिया जाय ?"

"औरो के भी तो घर थे ?"

"वे किसान थे । मै राष्ट्र का सैनिक हूँ । शायद अपने घर की शत्रु से रक्षा कर सकूँ ।"

"मार्टिन, तुम्हे क्या हो गया है ? तुम अकेले क्या करोगे ? हम सब यहाँ से चले जायेंगे । शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा ? हमने अपने घर डुबा दिये है, केवल इसी लिए कि शत्रु को आश्रय न मिले । और तुम अपना घर रह जाने दोगे ?"

"मेरा घर इतना विशाल है कि उस मे समूचा गाँव आ कर रह सकता है।"

"इसी लिए तो उसे डुबाना अधिक आवश्यक है। मार्टिन, सम्पत्ति का इतना मोह!"

मार्टिन को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने उसे थप्पड मार दिया हो। तन कर बोला, "क्रिस, यह मोह नही है।" फिर एकाएक पास आ कर उसने स्त्री का हाथ पकड लिया। "क्रिस, अभी तुम्हे नही समझा सकूँगा कि क्या चाहता हूँ, किन्तु विश्वास रखो, मै जो करना चाहता हूँ, उसी मे देश का भला है। तुम इतना विश्वास नही करती?" कह कर मार्टिन उसे अपनी ओर खीचने लगा।

स्त्री ने झटक कर हाथ छुडा लिया, और अलग हट कर खडी हो गयी। बोली, "तुम अपना कर्त्तव्य नही कर रहे, मै तो यही समझ पाती हूँ। सैनिक हो, सेनापति की आज्ञा का उल्लघन कर रहे हो। इस से अधिक क्या लाभ सोच रहे हो, कौन गुरुतर कर्त्तव्य, मै नही जानती, न जानना ही चाहती हूँ।" वह घूम कर टीले से उतर चली।

मार्टिन क्षण-भर तक स्तब्ध रह गया। फिर उसने व्यथित स्वर मे पुकारा, "क्रिस्टाबेल! क्रिस्टाबेल!"

किन्तु क्रिस्टाबेल ने मुँह फेर कर देखा भी नही।

मार्टिन ने एक लम्बी साँस ली, और फिर टीले से दूसरी ओर उतरने लगा। उतर कर वह जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ चला। कोई मील-भर जा कर वह एक बडे भवन के पास पहुँच गया। उसने दरवाज़े पर से ही आवाज़ दी, "कोई है?"

एक भृत्य आ कर सामने खडा हो गया। मार्टिन ने तीव्र दृष्टि से उस की ओर देख कर कहा, "तीन घोडे ले आओ और पहनने को कपडे। ज़ीन एक ही घोडे पर डालना।"

भृत्य ने अत्यन्त विस्मय के स्वर मे कहा, "यही पर?"

"हाँ, यही! फौरन!"

भृत्य भवन के अन्दर गया और कपडे ले आया। मार्टिन ने कपडे ले लिये,

और बोला, "कपडे मै स्वय पहन लूँगा, तुम घोडे ले आओ।"

भृत्य चुपचाप चला गया। जब वह घोडे ले कर आया, तब मार्टिन वस्त्र बदल चुका था और घुडसवारी के उपयुक्त वेश मे खडा था। घोडों के आते ही वह एक पर सवार हो गया और बोला, "मेरी बन्दूक ले आओ।"

भृत्य दौड कर बन्दूक ले आया। फिर उसने आदर-भाव से पूछा, "कब लौटना होगा?"

मार्टिन ने घोडे को एड लगाते हुए कहा, "तुम से मतलब?"

थोडी देर मे घुडसवार, उसका घोडा और उस के अनुगामी दोनो घोडे भी आँखो से ओझल हो गये। भृत्य तब तक वही खडा उसे देखता रहा, विस्मय का भाव उस के मुख पर उसी भाँति बना रहा।

२

"तुमने सुना? मार्टिन द्रोही है।"

"क्यो? कैसे? क्या हुआ?"

वर्षा हो रही थी। एक छोटे-से मैदान मे बहुत से स्त्री-पुरुष एकत्र थे। प्रत्येक के पास एक-आध छोटी गठरी थी, जिस मे उन्होंने अपनी ऐहिक संपत्ति बाँध रखी थी। किसी-किसी भाग्यशाली के पास एक गधा भी था, जिस पर उसने कुछ सामान लाद रखा था। अनेक स्त्रियो को घेरे हुए, या उन की गोद मे, छोटे-छोटे बच्चे भी थे। सब-के-सब सर्दी से ठिठुर रहे थे; किन्तु कोई भी इसकी शिकायत नही कर रहा था। सब के मन मे एक ही भाव था कि अगर हमारे मन मे छिपी हुई पीडा और अशान्ति व्यक्त हो जायगी, तो फिर हमारा साहस टूट जायगा...उस मूक अभिमान के कारण ही वे अब तक बचे हुए थे। उन्हे उस स्थान पर, उस दशा मे, एक ही रात काटनी थी, क्योकि प्रात.काल ही उन्हे ले जाने के लिए दूसरे गाँव से कुछ घोडे आने वाले थे। फिर भी, वे किसान थे, गरीब थे, अपनी दो हाथ भूमि और दो-मुट्ठी अन्न को प्राणो से भी अधिक चाहते थे।

रात के दस बज चुके थे। कृषक-समूह, जो अब तक प्रतीक्षापूर्ण नेत्रो से मार्टिन के घर की ओर देख रहा था, अब यह समाचार पा कर सिहर उठा।

"क्यो ? कैसे ? क्या हुआ ?"

"तुमने सुना नही ? उसने कहा है कि मै सेनापति की आज्ञा मानने को बाध्य नही हूँ । जो अच्छा समझूँगा, करूँगा ।"

'तुम से किसने कहा ।"

"क्रिस्टाबेल उसे कहने गयी थी, उसी से उसने यह बात कही है । उस के बाद ही वह घर से तीन घोडे ले कर कही चला गया है ?"

लोग अब तब थके हुए और उन्मन बैठे थे, अब मानो वेदना की तन्द्रा से जागे और पूछने लगे, "अब क्या होगा ?" अनेक मुखो से अनेक प्रकार की आलोचनाएँ होने लगी ।

"होगा क्या ? द्रोही है तो कोर्ट-मार्शल होगा ।"

"द्रोही नही, बल्कि कायर है । द्रोह करने के लिए भी हिम्मत चाहिए ।"

"कायर को भी कोर्ट-मार्शल से प्राण-दड मिलेगा ।"

"अब तक हम उसे कितना अच्छा समझते थे ।"

एक वृद्ध ने, जो अब तक चुपचाप तमाखू चबा रहा था, उसे थूक कर कहा, "भई, तुम लोग चाहे जो कहो, मुझे तो उस पर विश्वास है । इतना सीधा, इतना सदय, दूसरो का भला करनेवाला और त्यागी आदमी द्रोही हो सकता है, यह मेरा मन नही मानता । तुम्हे याद है, महामारी मे उसने कैसे गाँव मे रह कर दिन-रात सेवा की थी ? कहाँ-कहाँ से डाक्टर बुलाये थे, दवाइयाँ मँगायी थी ? जिस दिन मेरा लडका बीमार हुआ,"—कहते-कहते वृद्ध की आँखे डबडबा आयी—"उस दिन सारी रात वह उस के पास बैठा रहा । मैने कई बार कहा, अब चले जाओ, सोओ, पर नही माना । हमी से कहता रहा, तुम थके हुए हो, थोडा आराम कर लो, कल अच्छा हो जायगा, पर बेचारे को अच्छा ही नही होना था !" कुछ रुक कर फिर, "और अब तक भी, हमें जिस चीज की जरूरत होती है, उसी के पास जाते है कि नही ? तुम चाहे जो कहो, [illegible] ने अकलक रखा, ठीक रखा । वह ईसाई है, तो क्या हुआ ? मै तो उसे हमेशा अकलक कहूँगा ।"

एक युवक बोला, "दादा, इतने जोश मे न आओ । वह हमारी भलाइयाँ

तो करता रहा है, लेकिन क्या इस से उस को कीर्ति नही मिलती ? और फिर जो भीरु होते हैं, वे प्राय अच्छे ही जान पडते है, क्योकि उन में बुरा करने की हिम्मत ही नही होती ।"

विषय ऐसा था कि प्रात.काल होने तक समाप्त न होता, पर एकाएक कुछ दूर पर से एक स्त्री के चीखने का स्वर आया । लोग चौक कर चुप हो गये, दो-तीन ने पुकार कर पूछा, "क्या हुआ ?"

किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ था, इस का कोई उत्तर भी नही मिला । एक विधवा की लडकी पाँच-छ दिन से न्युमोनिया से पीडित थी, वह इस घोर शीत को नही सह सकी—एक ही हिचकी के झटके से वह इस लोक के बन्धन तोड कर चली गयी थी । उसी की माता रो रही थी ।

लोगो का साहस टूटने के बहुत निकट पहुँच गया । उन्हे एकाएक अपने जीवन की क्षुद्रता और असारता का बोध हो आया । ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई अदृश्य, भैरव और निर्दय अनिष्ट उन के सिर पर मँडरा रहा हो । उस अमानुषी शक्ति की उपस्थिति के ज्ञान से सब एकाएक स्तब्ध हो कर एक दूसरे का मुख देखने लगे, किन्तु कोई किसी से आँख नही मिलाता था, मानो इसी आशका से कि जो भय उनकी आँखो मे था, उसी की प्रतिच्छाया दूसरों की आँखो मे न दीख जाय ।

एकाएक दूर पर घोडे की टाप सुन पडी—कभी भूमि पर पडती हुई कठोर टटटप् ! टटटप् ! टटटप् ! फिर कुछ देर के लिए कीच-पानी में छिप्-शश् ! छिप्-शश् !

किसी ने कहा, "क्रिस्टाबेल लौट आयी !"

"लेकिन यह तो दो-तीन घोडो का स्वर है ।"

इस समस्या का हल अपने आप हो गया । घोड़े उसी मैदान के सिरे पर आ कर रुक गये । दो घोडो पर बरसातो से बँधे हुए बोझ लदे थे, तीसरे पर सवार था ।

सवार ने उस रोती हुई वृद्धा से पूछा, "क्या हुआ ?" स्वर मार्टिन का था ।

वृद्धा ने कोई उत्तर नही दिया, और भी ज़ोर से रोने लगी ।

मार्टिन घोडे पर से उतर पडा, देख कर स्थिति समझ गया। सकरुण स्वर से बोला, "माई, तुम मेरे घर चलो न ?"

"घर ? घर कहाँ है ? सब तो डूब गये।"

"मेरा घर बाकी है।"

"तुम कौन हो ?"

पास बैठे हुए एक युवक ने तिरस्कारपूर्ण स्वर मे जोर से कहा, "ये है अकलक, हमारे गाँव के रक्षक !"

मार्टिन चौका। एक बार उसने चारो ओर देखा। फिर उसे कुछ याद आ गया। जिस घोर प्रयास से उसने अपने को वश मे किया, उस के लक्षण उस के मुख पर स्पष्ट दीखते थे। फिर वह सब की ओर उन्मुख होकर बोला, "तुम सब चाहो, तो मेरे घर चल कर रहो। मै तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

कोई उत्तर नही मिला।

मार्टिन फिर कुछ काँपते-से स्वर मे बोला, "माई, तुम तो चली चलो। शायद मै इस लडकी की कुछ दवा-दारू कर सकूँ ?"

"जब कोई नही जाता, तब मैं भी सब सह लूँगी। लडकी तो अब मर चुकी। मै कायर नही हूँ।"

मार्टिन ने सिर झुका लिया। घोडे की लगाम पकड कर धीरे-धीरे आगे चल दिया, कुछ बोल नही सका।

पीछे से हँसी की—तिरस्कारपूर्ण हँसी की—ध्वनि आयी। दो-तीन स्वरो ने एक साथ ही कहा, "अकलक ! कायर !"

३

घर के आगे पहुँच कर मार्टिन ने स्वय ही घोडो पर से बोझ उतारा और एक-एक को उठा कर भीतर ले गया। उस के पैरो के शब्द सुन कर जो नोकर देखने आया था, वह चुपचाप खडा देखता रहा, उसे इतना साहस भी नही हुआ कि आगे बढ कर सामान उठाने की चेष्टा करे।

मार्टिन ने स्वय ही उस से कहा—"घोडो को ले जाओ।" तब एकाएक बिजली से संजीवित व्यक्ति की तरह वह बाहर दौड़ पड़ा।

मार्टिन ने सब दरवाजे बन्द कर लिये और एक कोने मे पडी हुई कुदाली और फावडा निकाल कर खोदने लगा। कमरे के मध्य मे जब वह काफी बडा गड्ढा खोद चुका, तब उसने एक बार कमर सीधी की और फिर घोडो पर के दोनो बोझ उस मे डाल दिये। फिर उसने अपनी कमर पर लिपटी हुई बहुत लम्बी एक रस्सी-सी खोली, और उस का एक छोर उन गट्ठरो के भीतर रख दिया। इस के बाद उसने गड्ढे को पूर्ववत् भर दिया, और वहाँ से किवाड़ तक, और किवाड के बाहर बहुत दूर तक, एक नाली-सी खोद कर उस में रस्सी दबा दी। जब वह घर से लगभग साठ गज दूर पहुँचा, तब रस्सी समाप्त हो गयी। उसने यहाँ पर उस का सिर बाहर रख के उसपर कुछ सडे पत्तो और लकडियो का छोटा-सा ढेर लगा दिया। फिर वह घर के भीतर आया और किवाड बन्द कर के बैठकर न-जाने क्या-क्या सोचने लगा।

४

सबेरा नही हुआ था। उषा भी नही हुई थी, किन्तु फिर भी रात्रि के अधकार के रग में कुछ परिवर्तन हो गया था—वह कुछ भूरा-सा हो गया था। इस से अनुमान किया जा सकता था कि सूर्योदय में कुछ ही देर थी। वर्षा अभी होती जा रही थी।

मैदान में बैठे हुए लोग सो नही पाये थे। वे अशान्ति और औत्सुक्य से क्रिस्टाबेल की प्रतीक्षा कर रहे थे। क्रिस्टाबेल शाम ही से दूसरे गाँव से घोडे लाने गयी थी, जो कि उन लोगो को ले जानेवाले थे।

उग्र प्रतीक्षा सदा ही फलीभूत होती है। एकाएक किसी ने चिल्ला कर कहा, "प्रजातन्त्र की जय! क्रिस्टाबेल आ गयी है!"

बहुत से लोग उठ खडे हुए। क्रिस्टाबेल घोडे से उतर कर नीचे बैठ गयी और बोली—"मै कितनी थक गयी हूँ—!" फिर चारो ओर देख कर बोली, "चलो, अब देर क्या है?"

"कुछ नही। एक बुढिया की लडकी—"

"हाँ, मैने सुना। वे अभी लौट आयेगे—तुम लोग तैयार हो लो।"

किसी ने पूछा, "और मार्टिन का क्या होगा?"

क्रिस्टाबेल का मुँह लाल हो आया। फिर वह रुक कर बोली, "क्यो, उस का क्या होना है ?"

"वह तो हमारे विरुद्ध जा रहा है।"

"क्यो ?"

"अपना घर बचा रहा है—और कल कुछ रसद भी ले आया है। मालूम होता है, यही रहेगा।"

क्रिस्टाबेल कुछ देर चुप रही। फिर बोली, "तुम लोग चल पडो, मै अभी आती हूँ। मुझे एक नया घोडा दे दो।"

दूसरा घोडा ले कर वह मार्टिन के घर की ओर चल पडी। मैदान मे बैठे हुए लोग तत्परता से घोडे लादने लगे।

मार्टिन अपने घर के बाहर ही टहल रहा था। क्रिस्टाबेल को आते देख कर रुक गया और एकटक उस की ओर देखने लगा।

क्रिस्टाबेल ने बिना भूमिका के कहा, "मार्टिन, यह क्या सुनती हूँ ?"

"यही सुना होगा कि अकलक अब कलकी हो गया है ?"

क्रिस्टाबेल यह प्रश्न सुन कर सहम गयी और सहसा कुछ कह नही सकी।

मार्टिन ने स्वय ही फिर कहा, "क्रिस्टाबेल, मै तुम्हे कह चुका हूँ कि मै देश का भला सोच रहा हूँ। सारा गाँव मेरे विरुद्ध है, क्या तुम भी मेरा विश्वास नही कर सकती ?"

क्रिस्टाबेल बोली, "मै क्या करूँ ? तुमने मुझे कोई कारण तो बताया नही ?"

"कारण बताने मे विवश हूँ। पर क्या तुम इतना भी विश्वास नही कर सकती ?"

"मै तो विश्वास करती हूँ, तुम स्वय ही मुझ से कुछ छिपा रहे हो।"

"अगर कर्त्तव्य कोई बात छिपाने को कहे—"

"मेरे प्रति तुम्हारा क्या कोई कर्त्तव्य नही है ?"

"क्रिस, मुझे अधिक पीडित न करो। मै विवश हूँ, इतना मान लो।"

क्रिस्टाबेल फिर बहुत देर तक चुप रही। फिर एक लम्बी साँस ले कर

मुँह फेर कर चल दी ।

"कहाँ जा रही हो, क्रिस ?"

क्रिस ने दबे हुए उद्वेग के स्वर मे उत्तर दिया, "कही नही, अपना कर्त्तव्य मुझे भी निश्चित करना है ।"

"क्रिस, तुम नाराज़ हो गयी—"

"यह प्रेमालाप का समय नही है—"

"अगर मै कारण बता दूँ, तो विश्वास करोगी ?"

क्रिस एकाएक ठिठक गयी और बोली—"क्या ?"

मार्टिन बहुत देर तक स्थिर दृष्टि से उस के मुख की ओर देखता रहा, कुछ बोला नही । फिर, "नही, विश्वास मोल नही लिया जाता । तुम जाओ !"

मार्टिन के हृदय की उथल-पुथल को क्रिस्टाबेल नही समझ पायी । क्रुद्ध सर्पिणी की तरह घूम कर तीव्र गति से चल दी । मार्टिन ने धीरे से कहा, "अविश्वासिनी !"

उस के स्वर मे क्रोध की अपेक्षा वेदना ही अधिक थी, इस बात को क्रिस्टाबेल नही समझ सकी । उसने क्षण भर के लिए रुक कर बिना मुख फेरे ही कहा, "कायर !"

जिस समय क्रिस्टाबेल मैदान पर पहुँची, तब लोगो ने देखा, उस की आँखों मे एक अमानुषी तेज था । उसने चुपचाप एक घोडा चुना और उछल कर चढ गयी ।

एक वृद्ध ने सहानुभूति के स्वर मे पूछा, "क्रिस, कहाँ जाओगी ?"

क्रिस्टाबेल ने बिना किसी की ओर देखे ही उत्तर दिया, "यागसिन, सेनापति से रिपोर्ट करने ।"

"कैसी रिपोर्ट ?"

"वह कायर है, कायर !" कहते-कहते क्रिस्टाबेल ने घोड़े को एड दी और बात-की-बात मे बहुत दूर निकल गयी । जब वह बिल्कुल ओझल हो गयी, तब लोगो की भाव-तरगिनी को निकलने की राह मिली, एक ही गगनकम्पी हुकार में—"क्रिस्टाबेल की जय !"

५

जिस समय सैनिको का दल मार्टिन को बन्दी करने आया और किवाड बन्द पा कर खटकाने लगा, तब मार्टिन अपनी बन्दूक ले कर सामने आया और ललकार कर बोला, "क्या है ?" किन्तु कहते-कहते उसने देखा, सैनिको के साथ क्रिस्टाबेल भी है। उसे देख कर मार्टिन ने बन्दूक आकाश की ओर कर के दाग दी और फिर ज़मीन पर पटक दी। बदले हुए स्वर मे फिर पूछा, "क्या है ?"

"हम तुम्हे बन्दी करने आये है—प्रजातन्त्र के नाम पर।"

"किस अपराध के लिए ?"

"कायरता के लिए।"

"मुझे ?" कह कर मार्टिन ने एक बार फिर क्रिस्टाबेल की ओर देखा, पर उसने आँख नही मिलायी। मार्टिन बोला—"मै तैयार हूँ, चलो ! मैने हथियार डाल दिये है।"

सैनिको ने उसे बीच मे ले लिया। उन के नायक ने क्रिस्टाबेल से पूछा, "आप कहाँ जायेगी, हमारे साथ ही ?"

"नही, तुम जाओ। मुझे अपना काम है।"

सैनिक बन्दी को ले कर आगे बढने लगे। जब वे कुछ दूर चले गये, तब क्रिस्टाबेल एक हल्की-सी चीख मार कर कीच मे ही बैठ गयी, "मार्टिन ! मार्टिन !"

पता नही, बन्दी ने उसे सुना भी कि नही। उस के मुख का भाव ज़रा भी नही बदला। शायद सैनिको के पद-रव मे वह डूब गयी थी, वह करुण पुकार—"मार्टिन !"

६

"प्रहरी !"

"क्या है ?"

"एक बात सुनोगे ?"

"अगर प्रजातन्त्र के खिलाफ नही होगी, तो सुन लूँगा।"

"तो जरा पास सरक आओ ।"

पहरेदार बन्दी के पास आ गया । बन्दी ने कहा—"जानते हो, कल मेरा कोर्ट-मार्शल होना है ।"

"हाँ, जानता हूँ ।"

"शायद—अवश्य—प्राणदड की आज्ञा होगी ।"

"हाँ, यही सम्भावना है ।"

"मेरा एक पत्र पहुँचा दोगे ?"

"किसे ?"

"स्त्री-सेना की एक वालटियर को ।"

"वह तुम्हारी कौन है ?"

मार्टिन ने इस का उत्तर नही दिया । बोला—"मुझे अब फिर किसी से मिलने या बोलने का अवसर नही मिलेगा, इसी से कहता हूँ ।"

पहरेदार ने कुछ सोच कर कहा—"काम तो सहज नही है । और फिर—"

"और क्या ?"

"मै तुम्हारी सहायता क्यो करूँ ? तुम तो—"

"कह दो न, रुक क्यो गये ?"

पहरेदार फिर चुप हो रहा । यह देख कर मार्टिन स्वयं ही बोला—"मै कायर हूँ, देश का शत्रु हूँ, यही न ?"

पहरेदार ने बिना कुछ कहे सिर झुका लिया । उस की यह अर्द्ध-व्यक्त स्वीकृति देख कर मार्टिन बोला, "मेरे पास इस का उत्तर नही है । तुम्हे क्या कहूँ ? अगर कहता हूँ कि मै कायर नही हूँ, तो तुम अपने मन मे सोचोगे, सभी कायर ऐसा कहा करते है । इस लिए इतना ही कहूँगा, मै मनुष्य हूँ, मेरे हृदय है और अभिमान भी ।"

मार्टिन थोडी देर प्रहरी की ओर चुपचाप देखता रहा । फिर बोला—"ले जाओगे ?"

प्रहरी ने धीरे से कहा—"हाँ, ड्यूटी बदलने से पहले दे देना ।"

"मैने लिख रखा है। अभी ले लो, कोई नही देख रहा है।"

यह कह कर मार्टिन ने शीघ्रता से एक छोटा-सा पुर्जा सिपाही की ओर बढा दिया। सिपाही ने उसे अपनी बन्दूक की नली मे डाल लिया और बोला, "मैने तुम्हारा विश्वास किया है—देखना।"

मार्टिन ने उत्तर नही दिया, एक बार उस की ओर देख-भर दिया। उस दृष्टि मे न-जाने क्या था, उसे लक्ष्य कर प्रहरी चुपचाप सिर झुकाये इधर-उधर घूमने लगा।

मार्टिन कोठरी के मध्य मे जा कर बैठ गया और छत के एक छोटे-से रोशनदान की ओर देखने लगा। एक बार चौक कर बोला—"है? यह मैने क्या किया?" फिर थोडी देर के लिए चुप हो गया। फिर एक लम्बी साँस ले कर बोला—"विराट् प्रेम का अन्त भी विराट् होना चाहिए। मै उसे अपनी व्यथा क्यो दिखाऊँ?"

मार्टिन ऐसी प्रश्न-भरी मुद्रा से उस रोशनदान की ओर देखने लगा, मानो उसी से उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हो।

७

मार्टिन के विशाल भवन के चारो ओर सैनिको का पहरा था, किन्तु सैनिक प्रजातन्त्र के नही थे। मकान के अन्दर से गाने की ध्वनि आ रही थी, किन्तु वे प्रजातन्त्र के राष्ट्र-गीत के स्वर नही थे। मार्टिन के भवन पर आज शत्रु-सेना का अधिकार था, आज देश के सात सौ शत्रु उस मे आश्रय पा रहे थे और अधिकाधिक दक्षिण की ओर बढने के मनसूबे बाँध रहे थे।

और भवन के बाहर चारो ओर पतली कीच थी— काली-काली, केवल कही-कही भवन से आनेवाले प्रकाश के कारण दीप्त..

भवन से दूर पर छोटे-छोटे पेडो के झुरमुट में क्रिस्टाबेल खडी थी। उस के पास ही एक पेड से घोडा बँधा था। क्रिस्टाबेल एकाग्र दृष्टि से भवन की ओर देख रही थी, किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम हो जाता था कि उस की आँखे उधर लगी होने पर भी ध्यान उधर नही था।

भवन के अन्दर शायद कोई उत्सव हो रहा था—और इसी लिए कभी-

कभी शायद अग्नि की उद्दीप्ति के कारण उस के अन्दर प्रकाश बढ जाता था। उस प्रकाश की एक-आध झलक रात्रि के अन्धकार को भेद कर उस झुरमुट तक पहुँच जाती थी, तो उसमे क्रिस्टाबेल का वह तना हुआ चेहरा और चमकती हुई आँखे—आँसू-भरी आँखे—स्पष्ट दीख जाती थी ।

क्रिस्टाबेल ने आप-ही-आप कहा, "आज दड हो चुका होगा...और कल—मै .."

रुक कर वह फिर उस ससज्ञ तन्द्रा मे पड गयी ।

"मार्टिन ..मेरा दुर्भाग्य .."

एकाएक मानो किसी दृढ निश्चय से प्रेरित हो कर उसने अपने शरीर को [illegible] । किन्तु तत्काल ही उस का शरीर जड हो गया, मानो कोई चिडिया साँप की सम्मोहन दृष्टि से निकलने का व्यर्थ प्रयत्न कर के थक गयी हो ।

वह फिर भवन की ओर देखने लगी ।

"ईसा, ईसा, अगर उस के दिल मे इतना साहस होता—अगर मेरे हाथो मे इतनी शक्ति . "

एकाएक वह चौकी । घोडे ने भी चौक कर सिर उठाया और हवा सूँघने लगा ।

क्रिस्टाबेल ने देखा, उस के आगे कुछ दूर पर एक आदमी धीरे-धीरे, चौकन्ना हो कर, बढ रहा है । एकाएक वह एक स्थान पर रुका और ज़मीन टटोल कर बैठ गया । फिर उसने जेब मे से एक चकमक पत्थर का टुकडा निकाल कर थोडी-सी घास सुलगायी और उसे भूमि पर रख दिया ।

भूमि पर से धुआँ उठने लगा । थोडी देर बाद थोडा-सा 'छर्र-छर्र—' हुआ, जैसे बारूद जली हो, और उस के क्षणभगुर प्रकाश मे क्रिस्टाबेल ने देखा, वह व्यक्ति मार्टिन का चिर-परिचित था । उस के मुख पर एक विचित्र आनन्दमिश्रित विजय का भाव था ।

क्रिस्टाबेल ने धीरे से पुकारा, "साइमन !"

वह व्यक्ति चौका । उसने जेब से पिस्तौल निकाला और पेडो के झुरमुट

की ओर बढा। जब वह पास आ गया, तब फिर क्रिस्टाबेल बोली, "साइमन, मै हूँ, क्रिस्टाबेल।"

उस व्यक्ति ने पिस्तौल छिपा लिया, और बोला, "तुम यहाँ कहाँ?"

"और तुम?"

"मै कार्यवश आया था।"

"क्या कर रहे थे?"

"ज़रा देर ठहरो, अभी जान जाओगी।" कह कर वह रुक कर चुपचाप भवन की ओर देखने लगा। क्रिस्टाबेल भी उधर देखती रही।

एकाएक क्रिस्टाबेल को प्रतीत हुआ, भूकम्प हो रहा है, उस के पैर लड-खडाये, घोडा भी एकाएक हिनहिनाया, वातावरण मे मानो एकाएक घोर दबाव-सा पडा—क्रिस्टाबेल ने आँखे बन्द कर ली—

धडाक्—धम्म!

एकाएक बीसियो तोपो का-सा स्वर हुआ। क्रिस्टाबेल का सिर भन्ना गया, कान बहरे हो गये। एक मिनट तक वह कुछ कर नही सकी। फिर उच्च स्वर मे बोली, "यह क्या है?"

प्रश्न व्यर्थ था। धमाके से मार्टिन का विशाल भवन एकाएक भूतल से उड गया था—और उस के छिन्न-भिन्न अवशेष न-जाने कहाँ-कहाँ फैल गये थे। दो-चार टुकडे उस झुरमट से कुछ ही दूर पर गिरे थे।

यही सब देख कर साइमन ने क्रिस्टाबेल को उत्तर नही दिया। बोला, "मै तुम्हारी तलाश मे था।"

"क्यो?"

"एक पत्र है, मार्टिन का।"

"ऐ? तुमने कैसे पाया?"

"उसने किसी प्रहरी के हाथ भिजवाया था, वह मुझे दे गया।"

क्रिस्टाबेल ने प्रश्न-भरी दृष्टि से उस की ओर देखा, कुछ बोली नही। साइमन ने उस का अभिप्राय समझ कर कहा, "उसको प्राणदड की आज्ञा हो गयी।"

क्रिस्टाबेल सिर झुका कर खडी रही। साइमन ने पत्र उस की ओर बढ़ाया। उसने ले लिया। साइमन ने दियासलाई जला कर प्रकाश किया, क्रिस्टाबेल पत्र पढने लगी।

पत्र पढ कर जब उसने साइमन की ओर देखा, तब अभी तिरस्कार और विद्रूप का भाव उस की आँखो से गया नही था। उसने पूछा, "अच्छा, यह बताओ, यह प्रबन्ध तुमने कब किया था ?"

"यह प्रबन्ध मेरा नही, मार्टिन का था।"

"है ?"

"वह कूमिड् ताग की गुप्तकार्यकारिणी का सदस्य था। उसने बन्दी होने से पहले मुझे कहा था कि इस पलीते मे आग लगा जाऊँ। मैं कल भी आया था, पर कल यह गीला था, जला नही।"

क्रिस्टाबेल के मुख से एक शब्द भी नही निकला। वह बिजली-से ताडित लता की तरह ज़मीन पर पड गयी।

मिनट-भर बाद जब उसे होश आया, तब रोते स्वर मे बोली, "तुमने पहले नही कहा ? अगर मै जानती—कल तक भी जानती होती..."

इस के आगे उस का स्वर रोने के आवेग मे अस्पष्ट हो गया।

साइमन ने हिचकिचाते हुए स्वर मे कहा, "बहन, धैर्य धरो—"

क्रिस्टाबेल बिजली की तरह उठी और घोड़े की लगाम पेड से खोल कर सवार हो ली। साइमन ने पूछा, "कहाँ—कहाँ चली ?"

क्रिस्टाबेल ने कोई उत्तर नही दिया, हाथ का पत्र साइमन की ओर फेक कर घोडा दौडाती हुई निकल गयी।

जब साइमन का विस्मय कुछ कम हुआ, तब वह फिर दियासलाई जला कर पत्र पढने लगा—

'क्रिस्टाबेल, कल मुझे प्राणदड हो जायेगा, इस लिए आज अन्तिम विदा ले रहा हूँ। हमारा विच्छेद तो उसी दिन हो गया था, जिस दिन तुम्हारा विश्वास उठ गया; किन्तु अभ्यासवश विदा माँग रहा हूँ।

'सुनो, क्रिस्टाबेल, जाते हुए एक बात कहे जाता हूँ। मै कायर नही

हूँ, इस बात का विश्वास मै तुम्हे उसी समय दिला सकता था, पर तुम विश्वास नही कर सकी ! मुझे तुम से विश्वास की—सहज, स्वाभाविक, अटल विश्वास की—आशा थी । यह आशा प्रत्येक मनुष्य करता है । तुम वैसा विश्वास नही दे सकी । अगर प्रत्येक बात मे विश्वास का पात्र होने के लिए प्रमाण देना पडे, अगर तुम्हारा प्रेम प्राप्त करने के लिए नित्य ही यह दिखाना पडे कि मै उस का पात्र हूँ, तो ऐसे प्रेम का क्या मूल्य है ? अगर तुम विश्वास-भर कर लेती !

'दो-एक दिन मे मै नही रहूँगा । तब तक-या उस के बाद—तुम्हे "प्रमाण" भी मिल जायँगे कि मै कायर नही हूँ । इसी से कहता हूँ, अगर तुम अब किसी से प्रेम करो, तो ऐसा व्यक्ति चुनना, जिस का तुम अकारण विश्वास कर सको । एक कायर से इतनी ही शिक्षा ग्रहण कर लो !

'अब मेरे हृदय मे शान्ति है । अपना हृदय टटोल कर देख लेना, उस मे क्या है ।—मार्ट'

पत्र पढ चुकने पर साइमन ने एक लम्बी साँस ली और धीरे-धीरे एक ओर को चल दिया ।

८

"अरे, तुम सब को क्या हो गया है ? कहाँ पागलों की तरह भागे जा रहे हो ?"

"तुम्हे नही मालूम ? एक कायर को प्राणदड मिल रहा है ।"

"मार्टिन को ? उस का फैसला हो गया ?"

"कल ही ।"

"क्या ? उसने कोई सफाई नही दी ?"

"नही । जब उस से पूछा गया, तब बोला, "मै सैनिक हूँ । सैनिक स्वभावत विश्वास का पात्र होता है । मै सफाई दे कर विश्वास मोल नही लेना चाहता । "

"इतनी अकड ? मालूम होता है, कायर के भी कुछ दिल है ।"

"अरे, अभी और सुनो ! जब दड सुनाया गया, तब जजो ने उस क्रिस्टा-

बेल की तारीफ भी की । इन दोनो की शादी होनेवाली थी । तब मार्टिन बोला, 'हाँ, मेरी ओर से भी बधाई भिजवा दीजियेगा ।' "

"फिर ?"

"फिर बोला, 'आपने मुझे कायर कहा है और प्राणदड दिया है । प्रजा-तन्त्र के एक सैनिक की हैसियत से मै दड स्वीकार करता हूँ । पर एक प्रार्थना है कि दड देते समय मुझे कायर की तरह पीठ मे गोली न मारी जाय । मै कायर नही हूँ ।"

"फिर ?"

"जज ने पूछा, 'इस का सबूत ?' पर बेचारा सबूत क्या देता ? चुप हो गया । जज ने बहुत सोच कर कहा, 'मै विवश हूँ ।' फिर कैदी को ले गये ।"

भीड को चीरता हुआ एक घोडा आगे आ रहा था, इन दोनो व्यक्तियो के पीछे-पीछे चल रहा था । उस पर सवार एक स्त्री इस चेष्टा मे थी कि मौका मिलने पर आगे निकल जाय । ये बाते सुन कर वह व्यथित, अर्ध-विक्षिप्त स्वर मे बोली, "अरे, यह सब मैं सुन चुकी हूँ—फिर क्यो दुहराते हो ? बताओ, दड होने मे कितनी देर है ?"

दोनो व्यक्ति चुपचाप एक ओर हट गये और उस की ओर देखने लगे । उसने अपना प्रश्न दुहराया ।

"पन्द्रह-बीस मिनट होगे—"

"बस ?" कह कर क्रिस्टाबेल ने घोडे को चाबुक मारा । चाबुक से अनभ्यस्त, थके-माँदे किन्तु अभिमानी, घोडे ने सिर उठा कर फुँफकारा और फिर तिलमिला कर भीड को चीरता हुआ दौडने लगा । किस को धक्का लगता है, कौन गिरता है, अपने अपमान मे वह सब भूल गया ।

दोनो व्यक्तियो ने एक दूसरे की ओर देखकर कहा, "पूरी दानवी है !" और फिर आगे बढने लगे ।

९

उस चौक के आसपास तीनो ओर खचाखच भीड भरी हुई थी । चौथी ओर, दीवार की छाया मे, एक शहतीर जमीन मे गडा हुआ खड़ा था, जिस

के साथ सैनिक मार्टिन को बाँध रहे थे। उसे शहतीर के साथ सटा कर, मुँह दीवार की ओर करके खडा कर दिया गया था। मार्टिन चुपचाप निष्क्रिय हो कर देखता जाता था, मानो वह इस अभिनय का प्रधान पात्र न हो कर एक दर्शक मात्र हो।

भीड इस क्रिया को देखती जाती थी और आलोचना करती जाती थी, "कैसा मरियल-सा खडा है—जैसे अफीम खा ली हो!"

"अरे, कायर को हौसला थोडे ही होता है?"

"कल तो बडी शान से खडा था—जज को भी घुडकी देता था!"

"अरे, जब तक मौत सिर पर नही आती, तब तक गीदड भी घुडकियाँ दिखाते है। पता तो तब चलता है, जब सामना होता है।"

भीड की आलोचना सदा बडी पैनी और विषाक्त होती है, पर मार्टिन पर उस का तनिक भी प्रभाव नही पडा। शायद इसी से आलोचना प्रखरतर होती जा रही थी।

थोडी ही देर मे बाँधने की क्रिया पूरी हो गयी। सैनिक वहाँ से हट गये।

इस शहतीर से पचास कदम की दूरी पर सैनिको की एक कतार खडी थी, और उन से कुछ हट कर एक सैनिक अफसर, जिस के आदेशानुसार सब काम हो रहा था। उसने एक बार चारो ओर देखा, भीड के एक अश को पीछे हटने का इशारा किया, फिर सावधान हो कर सैनिक-पक्ति को आदेश देने लगा।

उस के आदेशों से प्रेरित सैनिको ने बन्दूको के कुन्दे अपने कन्धो पर टेके, निशाने साधे और तैयार हो कर खडे हो गये।

अफसर अपनी घडी की ओर देखने लगा।

एकाएक चौक से कुछ दूर पर, पक्की सडक पर, घोडे की टाप—सरपट दौड की टाप—सुन पडी।

किसी ने कहा, "वह कैदी का क्षमा-पत्र आ रहा होगा।"

तत्काल ही किसी ने फटकार दिया, "चुप रहो।"

भीड को चीरता हुआ एक घोडा निकला, और सवार स्त्री ने एकाएक

लगाम खीची । घोड़ा अफसर के बिलकुल पास आ कर रुका । स्त्री क्षण-भर मुग्धवत् देखती रही । भीड ने उस की ओर देखा और एक ही स्वर मे —दबे स्वर मे—बोली, "दानवी !"

अफसर ने घडी से आँख हटाते हुए कहा, "एम ! (निशाना साधो !)"

क्रिस्टाबेल चौकी और लडखडाते हुए घोडे पर से कूद कर अफसर की ओर दौडी ।

अफसर ने दृढ स्वर मे कहा—"फायर ! (दागो !)"

लोगो की आँखे क्रिस्टाबेल से हट कर मार्टिन पर जा जमी—

उस क्षणिक, गम्भीर, [illegible] प्रकम्पित महाशान्ति मे एक स्त्री-स्वर गूँज उठा, "उसे बचाओ—अकलक ! अकलंक !"

फिर एकाएक बारह बन्दूको के नाद मे वह स्वर डूब गया—क्रिस्टाबेल लडखडाने लगी—सैनिक मार्टिन की ओर दौडे—किसी ने कहा, "वह देखो !"

लोगो ने देखा, जिन रस्सियो मे मार्टिन बाँधा गया था, वे टूट गयी थी । मार्टिन दीवार की ओर पैर किये औधे मुँह पडा था । भीड को एकाएक मानो खोयी हुई वाणी मिल गयी ।

"यह कब हुआ ?"

"उस की चीख सुन कर ही । मै देख रहा था, वह चौंका, फिर झटका दे कर घूम गया ।"

"मैंने भी देखा था । वह खुद भी चिल्लाया था—"

"क्या ?"

" 'क्राइस्ट' !"

"नही, 'क्रिस्टाबेल' !"

"हाँ, हाँ, 'क्रिस्टाबेल' ही !"

सैनिको ने जब आ कर मार्टिन के शव को उठाया, तब उन के मुँह पर आदर का भाव था । एक ने कहा, "यह देखो, सभी गोलियाँ छाती मे लगी है ।"

लोग मार्टिन के शव को देखने और उस की आलोचना करने मे इतने लीन हो गये कि बेचारी क्रिस्टाबेल—हाथ मे प्रजातन्त्र की मोहरवाला एक कागज लिये खडी क्रिस्टाबेल—की ओर किसी का ध्यान ही नही गया। वह एक बडी लम्बी, बडी थकी हुई, बडी उत्सर्गपूर्ण-सी साँस ले कर गिरते-गिरते बोली, "अकलक!"

सितम्बर, १९३१

एकाकी तारा

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा. .उस पहाड की आड मे से सूर्य का थोडा-सा अश दीख पड रहा है, और उस के ऊपर आकाश मे, बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालो की लाल-लाल लटे

या, जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फाँसी की रस्सी खून से रँगी गयी हो प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लील लिये जा रही हो .

सूर्यास्त हो गया है । पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खडी, स्थिर दृष्टि से पश्चिमी आकाश को देख रही है .आसपास के सुरम्य दृश्यो की ओर, सामने बहती हुई छोटी-सी पहाडी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामनेवाले पहाड की तलहटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित, क्षीण ध्वनि की ओर, उस का ध्यान नही जाता वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है मानो इसी पर उस का जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश मे बिखरे हुए रक्त को पी कर शक्ति प्राप्त करना चाहती है, किन्तु जीवन न पा कर विष ही पाती है, फिर भी छोड नही सकती, मूर्छित भी नही होती

सान्ध्य आकाश मे थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नही होता . किन्तु जो अपने हृदयो मे ही एक काल्पनिक ससार बसाये हुए उसे देखने आते है, जिन के अन्दर एक थिरकती हुई किन्तु अस्फुट प्रसन्नता होती है, या जो भीतर ही भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते है, उन की तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश मे अपने ऐसे अरमानो का प्रतिबिम्ब पा लेती है, उन के लिए ससार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उस मे केन्द्रित हो जाती है—उस प्रदोषा के आकाश मे ..

वह देख रही है, और देखती जाती है. .इस दृश्य को उसने सैकडो बार देखा है, उन दिनो भी जब उस मे उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नही था,

(उस के जीवन मे भी ऐसे क्षण थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षो से पडा हुआ है !) और उन दिनो भी, जब वह उस मे ससार की समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिविम्ब देख पायी है .पर वेदना का [illegible], ज्यो-ज्यो उन्माद बढता जाता है, त्यो-त्यो उस की लालसा तीखी होती जाती है. .

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गयी है। एक परदा उस की आँखो के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छायापट के आगे। पर इन तीनो पटो की आड से भी उस की तीव्र दृष्टि आकारो को भेदती हुई चली जा रही है, देख रही है, पढ रही है, जीवन के नग्न सत्यो को .

इस भीषण शिक्षा से चौक कर, कभी-कभी उस की दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उस के हाथ की ओर, जिस मे वह एक छोटा-सा पुरजा थामे हुए है। वह पढना नही जानती, पर आह ! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उत्कठा से, वह उस पुरजे पर लिखी हुई दो-चार सतरो को देखती है, मानो उस के नेत्रो की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगा कर हृदय में समा जायगा ..

वह पढना नही जानती, पर पत्र मे क्या लिखा है, वह पढवा कर सुन आयी है...'भाई की तारीख परसो की लगी है—रात के नौ बजे....' बस, इतना ही तो लिखा है।

आज ही तो वह परसो है—आज ही तो रात को वह नौ बजेगे...

और फिर वह पहले की भाँति, सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है...

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वय नही जानती। जब वह बहुत छोटी थी, तब शायद उस के माता-पिता ने उस का कोई नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से वह अपने भाई के साथ घर से निकल कर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उस के भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँकी खिला दी, और उस की मुखाकृति देख हँस-हँस कर उसे चिढाने लगा, 'लूनी ! लूनी !'

तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है..

न-जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरो मे पहुँच गये थे, पर पहाड़ों और जगलो मे रहनेवाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नही सह सके, कुछ ही दिनो बाद भाई-बहन दोनो फिर पहाडो मे लौट आये और गूजरो के यहाँ चरवाहे बन कर रोटी का गुज़ारा करने लगे. .लूनी दिन-भर ढोर चराया करती, और उस का भाई एक चट्टान पर बैठ कर गाया करता—या कभी-कभी कुछ पढा करता लूनी नही जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया।

कभी-कभी वह सुबह नीद खुलने पर देखती, उस के भाई का पता नही है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नयी किताबे ले कर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ तब लूनी कितनी घबरा गयी थी—पागल हो गयी थी .इतनी कि जब वह लौट कर आया, तब उसे उलाहना भी न दे पायी, उसे लज्जित-सा देख कर उस से चिपट गयी थी और खूब रोयी थी ..

अब वह भाई लौट कर नही आयेगा—अब उस से चिपट कर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नही प्राप्त होगा..

उस के बाद, कितने दिन बीत गये थे ! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ-ही-साथ दूर भी हटता जा रहा था। क्योकि उस मे वह स्वयभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उस मे एक गम्भीर, विचारवान्, सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नही समझती थी, उस का स्वागत करती थी और उससे खीझती थी...

दूर हटते-हटते एक दिन वह भाई उस के पास से बिल्कुल ही चला गया—दिनो के लिए नही, बरसो के लिए...

जब वह लौट कर आया, तब लूनी नही रही थी, या स्मृति भर रह गयी थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गयी थी। वह उस की विवाहिता भी नही थी, उस की रखैल भी नही थी। लूनी ने अपने-आप को मानो उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान दे कर विदा कर दिया था और स्वय अकेली रह गयी थी ! कभी-कभी जब वह स्वय अपनी परिस्थिति पर विचार करती,

तब उसे जान पडता, उस के दो शरीर हैं, जो एक दूसरे के ऊपर खडे हैं। एक मे उस की सम्पूर्ण आत्मा, उस का अपनापन, बसा हुआ है और लूनी के भाई की आराधना मे लीन है, और दूसरा, निचला, केवल एक लाश भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचारो से पीडित हो कर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फरियाद करती थी, तो उस मे एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, अन्य कोई उत्तर नही मिलता था. जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देख कर यही सोच कर रह जाता है कि अब मुझे इस का कष्ट निवारण करने का अधिकार नही रहा !

जब वह भाई लौट कर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहरा तो क्या, उस के सामने भी नही हो सकी ! वह चुपचाप चला गया—परिस्थिति देख कर वह लूनी की मन स्थिति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पा कर अपने पुराने आसन पर—उसी चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है—गयी, तब उस का भाई वहाँ बैठा उस की प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के हृदय के किसी अज्ञात कोने मे यह भाव जाग्रत हुआ कि अब भी कोई उसे समझता है, और इसी भाव से स्तिमित हो कर उसने अपना सिर भाई की गोद मे रख दिया, रो भी नही पायी, पडी रह गयी भाई ने भी उसे पुकारा नही, थोडी देर चुप रह कर फिर धीरे-धीरे गाने लग गया। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इस लिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया... जब उसने पुन जाग्रत हो कर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नही रही थी ! उस का भाई ही न जाने क्या-क्या अनोखे विचार उसे सुना गया था जो उसने समझे नही, जो उसे याद भी नही रहे, किन्तु जिनकी छाया उस की स्मृति के परदे के पीछे सदा नाचती रही है...

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छायापट से परे देख रही है. .

क्या देख रही है ? उसी भाई की आज तारीख पडी है, उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी मिलेगी !

अँधेरा हो गया है। तलहटी मे, चीड के वृक्षो के झुरमट मे छिपे हुए छोटे-

से गाँव में, कहीं आठ खड़के हैं। प्रशान्त वातावरण में, इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है...लूनी के सामने, पहाड़ की चोटी के पास, सान्ध्यतारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यों-ज्यों आकाश में इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों यह भी अधिकाधिक प्रोज्ज्वल होता जा रहा है, मानो अपने एकछत्र राजत्त्व में विघ्न होते देख कर उत्तेजित हो रहा हो...और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आयी है, उसे सोच नहीं पाती; उस का मन निरन्तर उस से अंन्य विषयों की ओर झुकता है, और उन्हीं पर जमने का प्रयत्न करता है...वह तारों की प्रतिस्पर्धा को देख कर उसी में अपने को भुला रही है—भुलाने का यत्न कर रही है...

उस का जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्धा ही रहा है—एक प्रतियोगिता, जिस में वह अकेली ही रही है...और वह सान्ध्यतारे को देख कर सोच रही है कि इस संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूँ! प्रकृति में लड़ाई ही लड़ाई, संहार ही संहार है; किन्तु वह कितना निर्मल है—उस पर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छायी हुई है, जिस के सौन्दर्य में हम सुखी हो सकते हैं...मैं अपने इस संसार में सुखी थी—इस छोटे-से संसार में, जो कि उसी साम्राज्य का एक अंश है, जिस के विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिस के विनाश पर वह तुला हुआ है...वह क्यों लड़ता है? क्यों सुखी नहीं हो सकता? इस में उस का दोष है या राज्य का? यह उस की प्रकृति का विकार है या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता? यदि लोगों की आत्माएँ अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर भी सुखी नहीं होतीं, केवल इस लिये कि उन के शरीर पर एक अपर शक्ति का बन्धन—राज्य—है, तो यह उन की कमी है या उन के ऊपर के राजत्व की?

यह आकाश के असंख्य तारों की जो टिमटिमाहट है, यह क्या अपने अस्तित्त्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन?

शायद दोनों!

लूनी को याद आया, यहीं एक दिन उस के भाई ने कहा था...उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दों का

अभिप्राय वह अभी तक नहीं समझ पायी थी, वे एकाएक सामने आ गये, उस की समझ में समा गये...'सुख या दुःख ऐसे नहीं होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण —सुख भी नहीं देता, दुःख भी नहीं देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्हीं आन्तरिक शक्तियों से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है, एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्व की संज्ञा को चेता देता है...फिर वह दायित्व राज्य के संघटन में पूर्ण होता है, या उस के विरोध में, इस का निर्णय करनेवाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण में न कभी आयी हैं, न कभी आयेंगी...मुझ में, हम में वह दायित्व जागा है, पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उस के पोषण के लिए सामग्री नहीं, इस लिए हम दुखी और अशान्त हैं, इसी लिए लड़ते हैं और लड़ना चाहते हैं...'

ये निर्णय करने वाली शक्तियाँ क्या हैं? क्या उस के हृदय में स्वार्थ था, जिस के लिए वह लड़ा? जिस के लिए वह आज प्राणदंड का भागी हुआ?

ऐसे खिचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त कर दिया था—या शायद उस की सूक्ष्म-बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उस के भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी। उस के भाई के आदर्शों का एक स्रोत उस के लिए सुख-कामना थी! क्यों? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी? क्या भाई को खो कर उसे सुख मिलेगा? नहीं, पर उस के भाई ने जो-कुछ देखा, वह उस के दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—या शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन सहजबोध के कारण अनुभव किया, ऐसे सहज-बोध के कारण, जो उस की वसीयत में प्राचीन काल से था—उस समय से, जब कि पृथ्वी पर मानव-जाति का अस्तित्त्व ही नहीं था, उस के पुरखा वन-मानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद नहीं थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहिन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं...

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक सहज चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उस के बौद्धिक क्षेत्र में नहीं आ पाया, उस की बुद्धि

केवल एक ही निरर्थक-सी बात कह कर रह गयी—'वह विद्रोही है...' कुछ- [illegible] चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पायी...

'वह विद्रोही है, और कुछ काल मे वह मूर्त्तिमान विद्रोह हो कर मर जायगा...'

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई गर्दन उठा कर आकाश की ओर देखने लगी। उस की प्रगाढ नीलिमा को बाँधने वाली आकाशगगा का धुँधलापन भी चमक रहा था...यह आकाशगगा है, या प्रकृति के उत्तम आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्वपुरुष के गले में फाँसी

रात! तारे—तारे—तारे! लूनी के मन मे एक विचार उठा, मै इन्हे देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हे देख ही लेगा और पहाड़ो की याद कर लेगा.. तारे क्षण-भर झपक लेगे, जब जागेगे, तब मै इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी, पर वह—?

एक हल्की- सी चीख, या गहरी-सी साँस .

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्ति-मय विचार के बीच ही मे उसे अपनी छोटी-सी लडकी—नही, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान—की याद आ गयी, और साथ ही उस के पिता की...वे शायद इस समय लूनी को खोज रहे होगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देनेवाली कहाँ है? और पिता सोच रहा होगा, उस का दिमाग कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बे-वक्त जगलो मे फिरती है! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यही रहेगी, वापस तो उस की लोथ ही जायगी! —तब पिता उस की विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी! और—और वह जिस के लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा!

लूनी फिर सान्ध्यतारे की ओर देखने लगी। फिर उस का मन भागा—वर्तमान के विचार से दूर, भूत-काल की ओर! उस दिन की ओर, जब वह शहर में भीख माँगते-माँगते उकता कर, शहर के अन्तिक प्रदेश मे आकर

किसी साल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पडते, और पेड की पत्तियो मे अपने परिचित वनो की सृष्टि किया करते उस दिन की ओर, जब वे एकाएक, मूक सकेत मे ही एक दूसरे के हृदय की प्यास को समझ कर , एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पडे अपने पहाडो के पथ पर ..उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड कर उस का भाई एक सुन्दर जल-मुरगावी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध, 'इसे छोड दो !' सुन कर क्षण-भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उडा कर धीरे-धीरे हँसने लगा ..उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनो को एकाएक अपने पुरुषत्त्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनो अपने-अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपट कर गले मिले और फिर लज्जित-से हो कर अलग हो गये .उस दिन की ओर, जब भाई ने आ कर उल्लास-भरे स्वर मे कहा, "देख लूनी मै गीत लिख कर लाया हूँ !' और उस के विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लगा उस दिन की ओर, जब उसने कहा, 'लूनी, अब मै बहुत कुछ पढ गया हूँ, अब मै तुम्हे सुखी करने के लिए लडूँगा' और रात मे लापता हो गया इस के बरसो बाद के उस दिन की ओर, जब उस के 'पति' ने उसे एक पत्र ला कर दिया और उपेक्षा से पूछा, 'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है !' और उस के पूछने पर कि पत्र मे क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा . उस दिन की लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने न हो सकी, और वह बाहर ही से लौट कर चला गया . उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उस की गोद मे सिर रख कर बरसो से जोडा हुआ कलुष धो आयी उस दिन की ओर, जब वह फिर बिदा ले कर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए ..उस भयकर दिन की ओर, जिस मे लूनी से किसी ने कहा कि उस का भाई पकडा गया है और यह नही बता सका कि कहाँ और किस जुर्म मे ..उस दिन की ओर, जब उस का घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह कि भाई को प्राणदड की आज्ञा हुई है .उस दिन की ओर, जब उसे भाई का अपने हाथो लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढा कर सुना, और कठस्थ कर के भी पूरा नही समझ पायी ..और अन्त मे, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को

रौंद कर वह लौट आया, टिक गया उस के हृदय के कोमलतम अंश पर, जहॉ उसने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन की, जो अभी थोडी देर मे नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियो को बिखेर जायगा, जिस का स्थान शीघ्र ही अनझरे ऑसू ले लेंगे.

लूनी की दृष्टि एक बार चारो ओर घूम कर लूनी के आसपास बिखरी हुई विभिन्न फूलो की रूपराशि और गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुंधले से आलोक को, तलहटी के चीड वृक्षों से उठती हुई अज्ञात सॉसो को, सामने के पहाड पर कॉपती हुई बीन की तान को और पहाड की स्निग्ध श्यामता को पी गयी, फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्यतारे की ओर, और फिर आकाश की शून्य विशालता की ओर. उस का वह अव्यक्त प्रश्न एक थर-थराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया

आकाश मे दो बडे-बडे सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले पर इन के पख कितने बडे-बडे जान पडते है—जैसे सारस के हों...

और उन की गति कितनी प्रशान्त. .मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह, नि शब्द...

नीचे गॉव मे से कही घटा खडकने की ध्वनि आयी...लूनी तन कर बैठ गयी; उस की ऐन्द्रयिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, किन्तु साथ ही उस के आगे, लूनी के शरीर भर मे , अँधेरा भर गया...

तलहटी मे कही चौंक कर फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी रोयी, 'चीन्हूँ ! चीन्हूँ !' मानो अपने घोसले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देख कर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भर कर तडप उठी हो और उस छाया को ललकार रही हो ..

लूनी का शरीर, उस की आत्मा, शिथिल हो कर झुक गयी. .उसे जान पडा, एक निराकार छाया उस के पास खडी है और उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पडा, वहाँ कुछ नहीहै, वह अकेली हो गयी है, लुट गयी है, क्वारी ही विधवा हो गयी है...

उसने देखा, शून्य मे आकाशगगा—विश्वपुरुष के गले की फाँसी—को छूता हुआ वृश्चिक का डक ही उस का एक मात्र सहचर रह गया है—दक्षिण के आकाश मे जिधर देवताओ का लोक है...

अक्तूबर, १९३३

शत्रु

ज्ञान को एक रात मोते समय भगवान् ने स्वप्न में दर्शन दिये और कहा, "ज्ञान, मैंने तुम्हे अपना प्रतिनिधि बना कर ससार मे भेजा है। उठो, संसार का पुनर्निर्माण करो।"

ज्ञान जाग पडा। उसने देखा, ससार अन्धकार मे पडा है, और मानव-जाति उस अन्धकार मे पथ-भ्रष्ट हो कर विनाश की ओर बढती चली जा रही है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है, तो उसे मानव-जाति को पथ पर लाना होगा, अन्धकार से बाहर खीचना होगा, उस का नेता बन कर उस के शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जा कर चौराहे पर खडा हो गया और सब को सुना कर कहने लगा, "मै मसीह हूँ, पैगम्बर हूँ, भगवान् का प्रतिनिधि हूँ। मेरे पास तुम्हारे उद्धार के लिए एक सन्देश है।"

लेकिन किसी ने उस की बात नही सुनी। कुछ उस की ओर देख कर हँस पडते, कुछ कहते, पागल है; अधिकाश कहते, यह हमारे धर्म के विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

आखिर तग आ कर वह एक अँधेरी गली में छिप कर बैठ गया, और सोचने लगा। उसने निश्चय किया कि मानव-जाति का सब से बड़ा शत्रु है धर्म, उसी से लडना होगा।

तभी पास कही से उसने स्त्री के करुण क्रन्दन की आवाज़ सुनी। उसने देखा, एक स्त्री भूमि पर लेटी है, उस के पास एक बहुत छोटा-सा बच्चा पड़ा है, जो या तो बेहोश है, या मर चुका है, क्योंकि उस के शरीर मे किसी प्रकार की गति नही है।

ज्ञान ने पूछा, "बहन, क्यो रोती हो?"

उस स्त्री ने कहा, "मैंने एक विधर्मी से विवाह किया था। जब लोगों को इस का पता चला, तब उन्होंने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा बच्चा भी भूख से मर रहा है।"

ज्ञान का निश्चय और दृढ हो गया। उसने कहा, "तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञान ने धर्म के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उसने कहा, "धर्म झूठा बन्धन है। परमात्मा एक है, अबाध है और धर्म से परे है। धर्म हमे सीमा मे रखता है, रोकता है, परमात्मा से अलग करता है, अत हमारा शत्रु है।"

लेकिन किसी ने कहा, "जो व्यक्ति परायी और बहिष्कृता औरत को अपने पास रखता है, उस की बात हम क्यो सुने ? वह समाज से पतित है, नीच है।"

तब लोगो ने उसे समाज-च्युत कर के बाहर निकाल दिया।

ज्ञान ने देखा कि धर्म से लडने के पहले समाज से लडना है। जब तक समाज पर विजय नही मिलती, तब तक धर्म का खडन नही हो सकता।

तब वह इसी प्रकार का प्रचार करने लगा। वह कहने लगा, "ये धर्म-ध्वजी, ये पोंगे-पुरोहित-मुल्ला, ये कौन हैं ? इन्हें क्या अधिकार है हमारे जीवन को बाँध रखने का ? आओ, हम इन्हे दूर कर दे, एक स्वतन्त्र समाज की रचना करे, ताकि हम उन्नति के पथ पर बढ सके।"

तब एक दिन विदेशी सरकार के दो सिपाही आ कर उसे पकड ले गये, क्योंकि वह वर्गों मे परस्पर विरोध जगा रहा था।

ज्ञान जब जेल काट कर बाहर निकला, तब उस की छाती मे इन विदेशियो के प्रति विद्रोह धधक रहा था। यही तो हमारी क्षुद्रताओ को स्थायी बनाये रखते है, और उस से लाभ उठाते है। पहले अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त करना होगा, तब समाज को तोड़ना होगा, तब...

और वह गुप्त रूप से विदेशियों के विरुद्ध लड़ाई का आयोजन करने लगा।

एक दिन उस के पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले, फटे-पुराने, खाकी कपड़े पहने हुए था। मुख पर झुर्रियाँ पड़ी थीं, आँखों में एक तीखा दर्द था। उस ने ज्ञान से कहा, "आप मुझे कुछ काम दें, ताकि म अपनी रोज़ी कमा सकूँ। मैं विदेशी हूँ, आप के देश में भूखा मर रहा हूँ। कोई भी काम आप मुझे दें, मैं करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटी का टुकड़ा भी नहीं है।"

ज्ञान ने खिन्न हो कर कहा, "मेरी दशा तुम से कुछ अच्छी नहीं है, मैं भी भूखा हूँ।"

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला, "अच्छा! मैं आप के दुःख से बहुत दुखी हूँ। मुझे अपना भाई समझें। यदि आपस में सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आप की रक्षा करे। मैं आप के लिए कुछ कर सकता हूँ?"

ज्ञान ने देखा कि देशी-विदेशी का प्रश्न तब उठता है, जब पेट भरा हो। सब से पहला शत्रु तो यह भूख ही है। पहले भूख को जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा...

और उसने 'भूख के लड़ाकों' का एक दल बनाना शुरू किया, जिस का उद्देश्य था अमीरों से धन छीन कर सब में समान रूप से वितरण करना, भूखों को रोटी देना, इत्यादि; लेकिन जब धनिकों को इस बात का पता चला, तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरों द्वारा उसे पकड़ मँगाया और एक पहाड़ी किले में कैद कर दिया। वहाँ एकान्त में उसे सताने के लिए नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञान का हृदय ग्लानि से भरने लगा। जीवन उसे बोझ जान पड़ने लगा। निरन्तर यह भाव उस के भीतर जगा करता कि मैं, ज्ञान, पर-

मात्मा का प्रतिनिधि, इतना विवश हूँ कि पेट-भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिए असम्भव है ! यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूंछा, कितना बेमानी !

एक दिन वह किले की दीवार पर चढ गया । बाहर खाई मे भरा हुआ पानी देखते-देखते उसे एकदम से विचार आया, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उस मे कूद कर प्राण खो देगा । परमात्मा के पास लौट कर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भार से मुक्त करो; मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ, लेकिन ऐसे ससार में मेरा स्थान नही है ।

वह स्थिर, मुग्ध दृष्टि से खाई के पानी मे देखने लगा । वह कूदने को ही था कि एकाएक उसने देखा, पानी मे उस का प्रतिबिम्ब झलक रहा है और मानो कह रहा है, "बस, अपने-आपसे लड चुके ?"

ज्ञान सहम कर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवार पर से नीचे उतर आया और किले मे चक्कर काटने लगा ।

और उसने जान लिया कि जीवन की सब से बडी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते है ।

जून, १९३५

पगोडा वृक्ष

१

उस वृक्ष में पत्ते नहीं थे ।

उस की यही विशेषता थी—विधवा के हृदय की तरह उस में विस्फोट धीरे-धीरे वृद्धिगत नहीं होता था, उस के लिए वसन्त की वासना के कोमल अंकुर नहीं फूटते थे, न बाल-लीलामयी मधुर झकोरें आती थीं, न नवयौवन के चिकने पत्ते ही निकल पाते थे...केवल वर्ष में एक बार किसी उमस-भरे दिन की वेदना में, प्रगल्भ यौवन के उन्मद सौरभ से भरे, हल्के पीले हृदय वाले श्वेत तारक-फूल, एकाएक ही उस के सर्वांग पर छा जाते थे—उस की नंगी वीभत्स शाखें एकाएक ही अदृश्य हो जाती थीं...

जीवन ! वे मानों प्रौढ़ावस्था के फूल ! वसन्त में, जब और सब वृक्ष फूल रहे होते, तब उस में केवल आगे से चपटे बड़े-बड़े कठोर पत्ते पकते हुए दीखते—मानो सजीले सामन्तों की पाँत में एक बूढ़ा शूद्र-पुत्र...और ग्रीष्म में मरुस्थल की लपलपाती गर्म साँस से बचने के लिए सब पेड़ सजाव-सिंगार छोड़ कर एक मोटी हरी चादर ओढ़ चुके होते, तब उस के पके पत्ते एक-एक कर के झर जाते, मानों नंगी निरीह शाखों ने पल्ला झाड़ कर मरुभूमि के दस्यु को दिखा दिया हो कि हम निःस्व हैं...केवल जब वर्षा के दौंगरे आकाश के कसैले रोष को शान्त कर देते थे, तब वृक्ष की चिरसंचित आत्मग्लानि द्रवित हो कर फूट पड़ती थी—विराट् वेदना सुन्दर ही होती है—और उस वृक्ष की वेदना पुष्पित हो उठती थी, और वह मानों अपने आन्तिरक सौन्दर्य के उन्मेष से लजा कर स्वयं उसमें छिप जाता था—या सौन्दर्य के आवरण में और नंगा हो जाता था...मानों किसी बुड्ढे ने संसार की तिरस्कार-भरी दृष्टि से लज्जित होकर अपने को यौवन के आवरण में लपेट लिया हो ।

या किसी विधवा के हृदय में एकाएक प्रेम का पूर्ण विकास हो उठा हो...

अभी वह दिन नहीं आया था । वसन्त समाप्त हो चुका था, ग्रीष्म भी पार हो चुका था, पर उन्मेष का दिन नहीं आया था—वृक्ष के पत्ते गिर गये

थे, पर फूल नहीं आये थे ।

साँझ हो रही थी । आकाश में बादल के छोटे-छोटे टुकड़े मँडरा रहे थे । उन में एक ओछा सौन्दर्य था, शक्तिहीन और दर्पहीन—वे बरस चुके थे । और वे मानों एक प्रकार के छिछोरेपन से जमुना के जल में, अपना रंगीन प्रतिबिम्ब देख कर मुस्करा रहे थे...

उस वृक्ष की नंगी शाखों-तले एक स्त्री बैठी हुई थी । वह एक स्थिर दृष्टि से बादलों की ओर देख रही थी, और शून्य भाव से एक पद की निरर्थक आवृत्ति किये जा रही थी—'प्रीतम इक सुमिरिनियाँ मोहि देहि जाहु ।' धीरे-धीरे अन्धकार होता जा रहा था, किन्तु उसे इस का बिल्कुल ध्यान नहीं था । वह मानों हमारे संसार से परे कहीं विचर रही थी, उसके लिए मानों हमारे काल की गति थी ही नहीं...

उस की सफेद धोती धुँधले प्रकाश में कुछ नीली-सी जान पड़ रही थी, और उस के मुख का वेदना-विकृत भाव भी एक फीकी मुस्कराहट का भ्रम उत्पन्न कर देता था । और, जिस मुद्रा में वह बैठी हुई थी, उस से किसी भी दर्शक के हृदय में मूर्तिमती प्रतीक्षा की भावना जाग्रत हो जाती, यद्यपि उस ने कई वर्षों से किसी की प्रतीक्षा नहीं की थी—प्रतीक्षा का विचार भी नहीं किया था—क्योंकि वह कई वर्षों से विधवा थी...

यह उस का नित्यक्रम था—नित्य ही सन्ध्या को वह अपने छोटे-से मकान—या झोंपड़े—के इस बागीचे में आ कर बैठ जाती थी और कभी-कभी घंटों बैठी रहती थी । जब वह इस प्रकार आत्मविस्मृत हो जाती, तब उसे अपनी दैनिक प्रार्थना का भी ध्यान नहीं रहता...तब तो किसी आकस्मिक शब्द से—किसी पशु के रँभाने से, या कभी वायु के झोंके से ही वह चौंक कर उठती थी और भीतर चली जाती थी...

आज भी यही दशा थी । उस के बैठे ही बैठे रात भी होने को आयी, जो बादल बिखरे हुए थे, वे नयी शक्ति पा कर पुनः आकाश में छा गये—धीरे-धीरे एक अत्यन्त कोमल, निःशब्दप्राय वर्षा भी होने लगी; पर उस का ध्यान भंग नहीं हुआ । जब वायु के एक झोंके ने उस की धोती के छोर को हिला कर

मानो कहा, 'उठो !' तब वह उस के गीलेपन से चौंकी, और एक बार मानो जाडे से काँप कर, पेड के सहारे खडी हो गयी और जल्दी-जल्दी अपने झोपड़े की ओर चल दी। वह वृक्ष मानो उत्सर्ग-भरी आवाज़ से बादलो से कहने लगा, 'भिगो लो तुम भी मेरी नग्नता को !'

२

वह विधवा थी---उस का नाम था सुखदा। जब से उस का विवाह हुआ, तब से ही वह उस झोपडे मे रहती थी। उस के विवाह को आज बारह वर्ष हो चुके थे—जिन मे से आठ उसने वैधव्य मे काटे थे। विधवा हो जाने के बाद भी उसने वह घर नही छोडा—छोड कर कही जाने को स्थान ही नही था। वह समाज की ही नही, व्यक्तिमात्र की परित्यक्ता थी, समाज की शरण की ही नही, किसी व्यक्ति के स्नेह से भी वचिता थी, उस का अपना कोई नही था। जिस झोपडे मे वह रहती थी, उस की सफाई इत्यादि करने के लिए एक बुढिया नित्य सबेरे आती थी, और दो घटे बाद चली जाती थी। सुखदा का ससार से कोई सम्बन्ध था तो इतना ही। वह अपना 'गुजारा कैसे करती थी, कोई नही जानता। स्त्रियाँ किस प्रकार गृहस्थी चलाती है, यह न आज तक किसी ने जाना है, न जानेगा। हमारे वैज्ञानिक तो कहते हैं कि स्वय चालित यन्त्र असम्भाव्य है।

सुखदा का पति देहली मे काम करता था। वह नित्य सवेरे ही झोपडे से चल पड़ता, और कुछ एक खेत पार कर के मेरठ से देहली जाने वाली सडक को जमुना के पुल के पास ही पा लेता। उन दिनो सुखदा दूर से जमुना-पुल की ओर देख कर, उस पर रेंगते हुए चीटी-से आकारो को देखती हुई अपने पति को चीन्हने का प्रयत्न किया करती। और, इसी प्रकार जब उस के लौट कर आने का समय होता, तब भी वह पुल पर उसे खोजा करती।

इस का कारण था। पति की अनुपस्थिति मे उसे कोई कष्ट या क्लेश होता हो, या वियोग की पीडा उस के लिए असह्य हो, यह बात नही थी। वर्ष-भर पति के साथ रह कर भी उसने इतनी घनिष्टता नही उत्पन्न की थी, जितनी कालेज के लडके-लडकियाँ सप्ताह भर मे कर लेते है .उस का और उस

के पति का जीवन मानों दो अलग और समानान्तर दिशाओं में बह रहा था, और वे निकट नहीं आ पाते थे। इसी लिए, वह अपने पति के पतित्व का अनुभव एक खास दूरी पर करती थी—जब वह उस से निकट आता, तब वह सुखदा के लिए बिल्कुल अजनबी हो जाता। जब वह घर में होता, तब सुखदा के हृदय में उस के प्रति एक उद्वेग, एक प्रकार की झुँझलाहट के अतिरिक्त कोई भावना नहीं होती थी। जब वह दूर पुल पर होता, तब सुखदा अपने हृदय को यह समझाया करती थी कि 'वह तेरा पति है'। स्वच्छन्द, शीतल निरपेक्षता से जैसे कोई बच्चे को इशारे से चिड़िया दिखा कर बताये—'यह अबाबील है।'

उसे स्वयं कभी-कभी इस से अत्यन्त कष्ट होता था। पातिव्रत्य के जो संस्कार उसे मिले थे, वे उसे कभी-कभी अत्यन्त दुखी कर डालते थे। वह इस निरपेक्षता को दूर करने की चेष्टा भी करती थी; किन्तु इस में मुख्य अड़चन होता था स्वयं उस का पति। उस में भी ऐसी ही एक उपेक्षा थी—मानों किसी दिन उसे बैठे-बैठे विचार आया हो, 'मेरे घर में बहू नहीं है', और इस न्यूनता को पूरा करने के लिए उसने एक बहू झोंपड़े में ला रखी हो!

इसी प्रकार सुखदा के दाम्पत्य जीवन के चार वर्ष बीते। (ऐसे भी हैं, जिन का सारा जीवन यों ही बीतता है!) उस समय तक एक विराट् दुःखान्त नाटक के लिए पूरा उपक्रम हो चुका था। किन्तु मुख्यपात्र की अकाल-मृत्यु के कारण वह खेला नहीं जा सका। सुखदा अकेली रह गयी। ट्रेजेडी के अंकुर से भरा हुआ उस का जीवन केवल एक विषाद से भरा रह गया—एक विषाद जिस की नीरसता में एक हल्का किन्तु मधुर रस था...

जिस के आधार पर उसने आठ वर्ष बिता दिये थे। नित्य ही जब वह अपने छोटे-से स्वच्छ बागीचे में आ कर बैठती, तब मानों उसे इस रस का एक घूँट मिल जाता था। जिस वृक्ष के नीचे वह नित्य बैठती थी, वह उसके पति का लगाया हुआ था। वह इसे मद्रास से लाया था। यद्यपि सुखदा के इस वृक्ष-तले बैठने का कारण यह नहीं था, तथापि वह नित्य ही इस बात का स्मरण कर लिया करती थी। क्षण भर के लिये उसे यही विश्वास हो जाता था कि वह पति की स्मृति के लिए ही वहाँ बैठी है...इस विश्वास से उस के हृदय की पुरानी

अशान्ति, वह अनौचित्य की भावना, मिट जाती थी

३

यदि दु ख की अनुपस्थिति को, अनुभूति की अचेतना को, सुख कह सकते है, तो सुखदा सुखी थी। यदि—! किन्तु वह स्वय सोचा करती, क्या मेरे जीवन का उद्देश्य यही है ? उस वृक्ष-तले बैठ कर जब वह जमुना का कम्पित वक्ष देखती, तब उस के हृदय मे सदा यही प्रश्न उठता, 'क्या हमारा जीवन बालू पर के मिटाये हुए चिन्ह से अधिक कुछ भी नही है ?' पर इस प्रश्न से उस की शान्ति नही भग होती थी, यद्यपि विषाद कुछ गहरा हो जाता था। उस के हृदय से मानो अशान्ति की क्षमता नष्ट हो गयी थी—समुद्र मानों तूफान लाना भूल गया था

वह जो नित्य नियमपूर्वक प्रार्थना किया करती थी, वह किसी आन्तरिक अशान्ति की प्रेरणा से नही, वह केवल एक नियम भर था—या उस से कुछ ही अधिक। कभी वह इस विषय पर सोचती थी, तो एक ही बात का निश्चय कर पाती थी—उसे ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास था—बस। वह अपनी आत्मा से पूछती कि वह प्रार्थना क्यों करती है, तो यही उत्तर मिलता था कि सब से सरल पथ यही है—कुछ लाभ हो या न हो, उस से क्या .किन्तु फिर भी अपने वैधव्य के आठ वर्षों में एक दिन भी उस का नियम भग नही हुआ था—और वह कल्पना भी नही कर सकती थी कि इस नियम का भग कर दे

आज जब वर्षा होने लगी और वह चौक कर उठी, तब उसे याद आया कि वह अपनी प्रार्थना भी भूल गयी है, और वह दौडी हुई इस त्रुटि को पूरा करने गयी।

झोपडे मे प्रवेश कर के उसने एक दीपक जलाया, और उसे झोपडे के एक कोने मे ले गयी। उसे एक छोटे-से आले मे रख कर वह घुटने टेक कर बैठ गयी, उस की आँखे बन्द हो गयी और कुछ ही क्षण मे वह इस ससार से परे कही पहुँच गयी .

एक अभूतपूर्व घटना घटी। किसी ने किवाड़ खटखटाये। सुखदा का ध्यान भग हो गया, उसने चौक कर कहा, "कौन ?"

कोई उत्तर नही आया, पर किवाड पहले से भी ज़ोर से खटकाये जाने लगे।

सुखदा क्षण भर सोचती रही, खोलूँ या न खोलूँ ? इस असमय मे कौन आया है ? एकाएक हिन्दू समाज के कानूनों का एक पुलिन्दा ही उस की आँखो के आगे से हो गया—समय, परिस्थिति, एकान्त, विधवा, और सब से बडी चीज़—हिन्दू धर्म की नाक—लज्जा.

उस के प्रश्न का बुद्धि ने कोई उत्तर नही दिया। किन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उसने उठ कर किवाड खोल दिया, और गम्भीर स्वर मे पूछा, "कौन है ?"

एक युवक ने आगे बढ कर धीमे स्वर मे कहा, "मै हूँ, बहिनजी ! आप को नमस्कार करता हूँ।"

सुखदा विस्मय मे कुछ बोली नही। स्थिर भाव से उस के मुख की ओर देखती रही। मुख की ओर देखते ही देखते उसने बहुत-सी बाते देख ली।

युवक के शरीर पर कपडे अधिक नही थे, एक धोती, जो घुटनो तक बँधी हुई थी, गले मे एक फटी कमीज। हाथ मे एक छोटी-सी पोटली-सी थी। सुखदा ने यह भी देखा कि युवक के शरीर पर के कपडे वर्षा के नही, किसी अधिक गँदले पानी से भीगे हुए थे और हाथ की पोटली प्राय: सूखी थी ..वस्त्रों से वह बिल्कुल साधारण गँवार मालूम होता था, किन्तु उस का मुख मानों किसी आवरण के भीतर से भी कह रहा था, मै पढा-लिखा हूँ, सभ्य हूँ, संस्कृत हूँ

सुखदा को चुप देख कर युवक फिर बोला, "बहिन जी, मुझे यहाँ रात भर के लिए आश्रय मिल सकता है ?"

सुखदा सहसा उत्तर नही दे सकी। फिर उसने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा, "आप कौन है, मै जानती भी नही।"

"मै एक बिल्कुल साधारण व्यक्ति हूँ। कष्ट में होने के कारण रात भर के लिए [illegible]—इस से अधिक आप क्या जानना चाहती है ?"

"आप स्वय समझ सकते है," फिर कुछ हिचकिचा कर, "मै विधवा हूँ, और यहाँ अकेली रहती हूँ।"

युवक ने सहानुभूति के स्वर मे कहा, "अच्छा ?" और चुप रह गया।

"आप और कही नही जा सकते ?"

युवक एक अत्यन्त सरल-सी हँसी हँस कर बोला, "नही।"

सुखदा को वह हँसी अच्छी नही लगी। वह उसे समझ नही सकी। उसने सन्देह के स्वर मे पूछा, "क्यो ? आप आये कहाँ से है ?"

"जमुना पार से आया हूँ।"

"देहली से ?"

"जी हाँ।"

"तो यहाँ कैसे आये ? सडक तो इधर नही आती। पुल के पास ही कही क्यो नही ठहरे ?"

"मै पुल पर से नही आया।"

"तो ?"

"यही सामने—तैर कर आया हूँ।"

"है ? जमना तैर कर ? आज—अभी ?"

युवक फिर हँसकर चुप रह गया।

थोडी देर बाद सुखदा बोली, "आपने अपना जो परिचय दिया है, उस से मेरा सन्देह बढना ही चाहिए।"

युवक का चेहरा उतर गया। वह बोला, "ठीक है।"

थोडी देर फिर दोनों चुपचाप एक दूसरे को देखते रहे। दोनों मानों एक दूसरे का माप ले रहे थे। फिर युवक ने मानो अन्दर ही अन्दर किसी निश्चय पर पहुँच कर कहा, "आप मुझे थोडी देर के लिए अन्दर आने दे, तो आप को सन्तोष हो जायगा।"

सुखदा कुछ कह भी नही पायी थी कि युवक भीतर चला आया। तब सुखदा भी धीरे-धीरे झोपडे के मध्य की ओर चली। एक ओर एक छोटी सी चौकी पडी थी, उसी की ओर इशारा कर के युवक से बोली, "बैठ जाइये।"

युवक क्षण भर खडा ही रहा, फिर बैठ गया। सुखदा उससे कुछ दूर पर खड़ी रही।

"आप क्या जानना चाहती है, जिस से आप को सन्तोष हो जाय ?"

सुखदा ने बिना किसी कौतूहल के कहा, "आप स्वयं ही कुछ बताना चाहते है, मैने तो कुछ नही पूछा ।"

युवक ने एक तीव्र दृष्टि से उस की ओर देखा, ओर बोला, "अच्छा, ऐसे ही सही । तो सुनिए । मै दो-तीन साल से इसी प्रकार मारा-मारा फिरता हूँ । आम तौर पर तो अपना कुछ न कुछ प्रबन्ध रहता ही है, ओर काम चल जाता है । किन्तु कभी-कभी हमारी दशा बहुत बुरी हो जाती है—हमारे लिए इस विराट् ब्रिटिश साम्राज्य मे कही पैर रखने को भी स्थान नही रहता । तब हम इधर-उधर मारे-मारे फिरते है, कि कही कुछ समय के लिए हमे आश्रय मिल जाय, और फिर हम अपना अस्तित्व मिटा कर , एक नया और मिथ्या रूप धारण कर के ही उस साम्राज्य मे स्थान पाते है, जिस मे हमारी सच्चाई के लिए स्थान नही है. "

सुखदा रोक कर कहने को हुई, "आप की बात मुझे तो कुछ भी समझ नही आयी ।" किन्तु जब यह कहने के लिए उसने मुँह खोला, तब अपना प्रश्न सुन कर उसे स्वय आश्चर्य हुआ—"आप खाना खा चुके है ?"

युवक ने मुस्करा कर कहा, "हाँ, कल शाम को तो खाया था ।"

सुखदा झोपडे के एक सिरे के ताक की ओर जाती-जाती बोली, "तो अब तक क्यो नही बताया था ? इतना तो मै कर ही सकती हूँ ।"

उसने ताक मे से कुछ रोटी, साग और केले निकाले, और फिर बोली, "साग जरा गर्म कर लाऊँ ।" यह कह कर, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए, वह झोपडे के पिछली ओर सटे हुए एक छोटे-से छप्पर के नीचे चली गयी ।

युवक चौकी पर घुटने समेटे हुए बैठा था । जब उसने छप्पर की ओर से फूँकने की आवाज़ सुनी, तब उसने अपनी ठोडी को अपने घुटने पर टेक दिया और चुपचाप झोपडे मे पडी वस्तुओ को देखने लगा ।

एक कोने मे, एक छोटे-से लकडी के बक्स पर, आठ-दस किताबे पडी थी । युवक के मन में एक क्षीण कौतूहल हुआ कि उठ कर देखे क्या पुस्तकें है; पर

उस के शरीर पर एक सम्मोहनी थकान छायी हुई थी, वह नही उठा। बक्स से हट कर उस की आँखे दिये वाले आले की ओर पहुँची। उसने देखा, आले के ऊपर , एक लकडी के तख्ते पर, एक छोटी-सी धातु की प्रतिमा रखी है, जिस के कुछ अश उस अप्रत्यक्ष प्रकाश मे चमक रहे है। प्रतिमा के पैर शायद फूलो से ढके हुए थे। युवक के मन मे प्रश्न हुआ कि किस की प्रतिमा है, किन्तु यह प्रश्न बिल्कुल बौद्धिक था, इस मे स्वाभाविक कौतूहल नही था। उस की आँखे उस प्रतिमा से भी हट गयी। वह छत की ओर देखने लगा। छत पर किसी चीज़ का एक छोटा-सा गोल प्रतिबिम्ब पड रहा था। युवक ने ज़रा घूम कर देखा, वह एक छोटे शीशे से प्रतिबिम्बित हो रहा दिये का प्रकाश था। उसी शीशे के पास ही एक लकडी की कघी पडी थी, और शीशे के कुछ ऊपर किसी गाढे रग के गिलाफ मे कोई वाद्य टँगा हुआ था। पास ही टँगी हुई गज़ से युवक ने अनुमान किया कि वह बेला या सारगी होगी। उसे कुछ विस्मय हुआ। वह अब घुटनो पर सिर टेक कर सोचने लगा, इस छोटे-से झोपडे में इतनी सस्कृति!

छप्पर की ओर से साग के गर्म होने का 'छिम-छिम-छ-छ-छिम-छिम' स्वर आ रहा था। एक बहुत क्षीण प्रतीक्षा के, और अपने शरीर की थकान की बढती हुई किन्तु अभी तक मधुर अनुभूति के साथ ही साथ युवक के मन में यह प्रश्न भी उठा कि क्या वह स्त्री गाती भी होगी...स्वर तो बडा मधुर है, और वेदना के सहवास ने उसे एक कम्पित निखार दे दिया है.

४

सुखदा जब रोटी ले कर झोपडे मे आयी, तब पहले तो वह सीधी युवक के सामने चली आयी, [illegible]।

युवक उसी प्रकार, घुटनो पर सिर टेके, बिल्कुल निश्चल पडा था— उस की साँस बिल्कुल नियमित रूप से चल रही थी।

वह सो रहा था!

सुखदा थाली लिये खडी सोचने लगी, 'क्या करूँ ? इसे जगाऊँ या सोने दूँ ? वह सो भी रहा है या कुछ सोच ही रहा है ?'

उसने धीमे स्वर मे कहा, "मै बडी देर से थाली लिये खडी हूँ।"

कोई उत्तर नही मिला। सुखदा फिर असमजस मे पड गयी। उस की आँखे हठात् युवक के शरीर की आलोचना करने लगी। युवक ने अपने पैरो पर अपनी पोटली रख ली थी, जिसे वह बाये हाथ से थामे हुए था। दाहिने हाथ से उसने बाये हाथ की कलाई पकड ली थी और इस प्रकार घिरे हुए अपने घुटनो पर सिर रखे बैठा था। उस की तनी हुई भुजाओ की पेशियाँ उभर रही थी, किन्तु फिर भी ऐसा जान पडता था, वे भूखी है। फटी हुई कमीज़ मे से कन्धे के नीचे का कुछ अश दीख पडता था। पीठ यो झुकी हुई थी, मानो किसी दिक्पाल की पीठ हो

देख-भाल कर सुखदा की दृष्टि फिर उसी पोटली पर जा पडी। इस मे क्या है? अवश्य कोई मूल्यवान् वस्तु होगी, नही तो वह क्यो उसे हाथ मे लिये रहता—क्यो सोते समय भी न छोडता? सुखदा उसे ध्यान से देखने लगी। उसे भास हुआ, उस मे एक तो काला-सा चारखाने का कोट है और उस के अन्दर कुछ लिपटा हुआ है। क्या?

कही यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नही है?

इसे जगा कर बाहर निकाल दिया जाय?

आश्रय दिया जाय?

रोटी-पानी?

धमकाने पर यदि वार कर बैठे?

पर इतना भोला क्यो मालूम होता है?

बाढ मे जमुना तैर कर पार कर आया है?

कपडे अभी तक गीले ही है!

फिर भी सो रहा है!

पागल है?

सुखदा ने धीरे से थाली ज़मीन पर रख दी और छप्पर की ओर लौट गयी। वहाँ से एक जलती हुई अँगीठी ले कर आयी और युवक के पास ही रख कर फिर खडी हो गयी। क्षण भर वह अनिश्चय में खडी रही, फिर उसने युवक के कन्धे

पर हाथ रख कर कहा, "उठिए।"

युवक नही उठा।

सुखदा ने उसे धीरे से हिलाया। युवक ने सोते ही सोते कहा, "क्या है, उमा?" और फिर चौक कर जाग पडा। जागते ही कुछ लज्जित स्वर मे बोला, "मै कुछ अनाप-शनाप तो नही बक गया?"

सुखदा ने गम्भीर भाव से कहा, "नही तो, क्यो?"

"मै सो गया था, मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैने सोते-सोते कुछ कहा था।"

सुखदा ने अपने स्वर को स्वाभाविक रखने की चेष्टा करते हुए कहा, "नही।" फिर बोली, "खाना तय्यार है, आप खावे।" कह कर थाली उस के सामने रख दी।

युवक ने कृतज्ञतापूर्वक कहा, "मैने आप को बहुत कष्ट दिया। पर इतना सन्तोष मुझे है कि जहाँ तक हो सकता है, मै किसी को कष्ट न देने की चेष्टा करता हूँ।" यह कह कर वह सिर झुकाये धीरे-धीरे खाना खाने लगा।

सुखदा बोली, "आप के कपडे सुखाने के लिए अगीठी भी ले आयी हूँ। वह पोटली मुझे दे दे, मै उन्हे सुखा देती हूँ।"

युवक ने जल्दी से कहा, "नही-नही, उसे सुखाने का कष्ट न करे!" किन्तु उस के कहते-कहते सुखदा ने पोटली खोल ही तो डाली।

एक कोट था, उस के अन्दर लिपटी हुई एक गान्धी टोपी, और टोपी के अन्दर—एक रिवाल्वर!

सुखदा ने जल्दी से उसे भूमि पर रख दिया, और कुछ सहम कर युवक की ओर देखने लगी। युवक ने कोमल स्वर में कहा, "इसे मुझे दे दे।"

सुखदा निश्चल खडी रही। वह सोचने लगी, इस से अभी कह दूँ, चला जाय? यह सोचते ही सोचते उसने कहा, "आप अपने बदन पर के कपडे भी सुखा लें।"

युवक कुछ झिझकते हुए बोला, "पर मेरे पास और पहनने को कुछ नही है।"

इस का उत्तर स्पष्ट था, किन्तु सुखदा सोचने लगी, जब मै इसे यहाँ से निकाल ही रही हूँ, तब क्यो अधिक दया दिखाऊँ ? इस लिए उसने यह नही कहा कि मै और कपडे दे सकती हूँ । वह युवक के पास से हट कर दिये के पास चली गयी और स्थिर दृष्टि से प्रतिमा की ओर देखने लगी । देखते-देखते वह न जाने किस विचार मे लीन हो गयी । उसे युवक का ध्यान ही न रहा ।

युवक जब खाना खा चुका, तब उसने सुखदा की ओर देखा । किन्तु उसे इस प्रकार तल्लीन देख कर वह बोला नही, स्वय उठ कर दबे पाँव छप्पर की ओर चला गया । वहाँ जा कर हाथ धो कर वह लौटा तो उसने देखा, सुखदा जहाँ खडी थी, वही घुटने टेके बैठी है, किन्तु हाथ जोडे हुए नही...उसे कुछ कहने का साहस नही हुआ । युवक फिर लौट कर छप्पर मे चला गया और वहाँ से सुखदा के उठने के स्वर की प्रतीक्षा करता हुआ और बाहर होती हुई वर्षा का स्वर सुनता हुआ बैठा रहा..

५

भीतर से सुखदा ने पुकारा, "आप कहाँ है ?"

युवक ने चौक कर कहा, "आया !" और ओसारे के भीतर चला गया ।

उस के अन्दर आते ही सुखदा ने प्रश्न किया, "आप का नाम क्या है ?"

एक क्षण, बहुत छोटे-से क्षण के बाद युवक ने उत्तर दिया, "मेरा नाम दिनेश है ।" उस क्षण मे उसने देख लिया कि विधवा के स्वर मे विरोध या वैमनस्य तो नही, किन्तु एक प्रकार का कवचबद्ध दूरत्व, एक स्वरक्षात्मक कठोरता अवश्य है ।

रिवाल्वर की ओर इगित कर के, "यह क्या है ?"

उत्तर मे एक प्रश्न-भरी दृष्टि, मानों कहती हो, क्या आप नही जानती ?

"यह क्यो ?"

"आत्मरक्षा के लिए ।"

"किस से ? सच क्यो नही कहते, हत्या के लिए ?"

"कभी नही । मै हिसा को घोर पाप समझता हूँ ।"

"आप पुलिस से बचते फिरते है—मफ़रूर है ?"

"यही समझ लीजिए।"

"तो आप मेरे पास क्यो आये ?"

"शरण माँगने।"

"मेरे पास क्यो ?"

"मैंने नदी पार की, तो यही स्थान पहले दीखा। और मुझे राह नहीं मालूम थी।"

"आपने नदी क्यों पार की—पुल से क्यों नही आये ?"

"पुलिस ने मेरा पीछा किया था—मै और किसी प्रकार बच नही सकता था। इस लिए कोट उतार कर जमुना मे कूद पडा।"

"तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?"

"हाँ, सम्भव है। पर मै अँधेरे मे कूदा था, उन्हें कुछ अनुमान नही होगा कि कहाँ कूदा—या कूदा भी था कि नही। और फिर, ऐसी बाढ मे जमुना पार कर लेना भी आसान नही, वे शायद समझे कि डूब गया होगा या नीचे बह गया होगा।"

"अगर आप यहाँ पकड़े जायँ, तो मुझे भी दड मिल सकता है ?"

"हाँ। मुझे आश्रय देना जुर्म है। और अगर आप मुझे गिरफ्तार करा दें, तो बहुत-कुछ लाभ भी हो सकता है।"

सुखदा ने युवक की ओर तीव्र दृष्टि से देखा, किन्तु उस के मुख पर तिरस्कार का भाव न था। वह थोडी देर चुप रही। फिर एकाएक बोली, "आपने यह सब मुझे क्यों बताया ? अनजाने मे—"

"आपने पूछा था। मै झूठ भी बोल सकता था, पर आप को धोखे में रखने की इच्छा नही हुई"

"डरे नही ?"

"नही। विश्वासघात आसान नही है—विशेषत. वहाँ, जहाँ विश्वास हो।"

"तो, आपने मेरी अनुमति प्राप्त करना जरूरी समझा ? आप जानते हैं, मै अकेली हूँ, आप को यहाँ से निकाल नही सकती।"

"आप का जो अभिप्राय है, उस की मैंने कल्पना भी नही की।"

"क्यो ?"

"अगर आप निकाल दे, तो मै बाहर भी रात बिता सकता हूँ। कष्ट होगा, पर कष्ट मात्र पर्याप्त नही है।"

"क्या मतलब ? विशेष परिस्थिति में आप मेरी इच्छा के विरुद्ध भी यहाँ रहते ?"

"हाँ, यदि व्यक्तिगत कष्ट या प्राणो के बचाव के अतिरिक्त और कारण होता तो—"

"अगर मै लडती तो—क्या मार डालते ?"

युवक ने थोडी देर सोच कर, अधिक गम्भीर होकर कहा, "शायद—नही।"

"शायद ! निश्चय नही है ?"

"आप स्त्री हैं, इस लिए शायद नही। पर परिस्थिति भी कुछ चीज होती है—हम कल्पना नही कर सकते।"

"अच्छा !" कह कर सुखदा धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगी।

थोडी देर बाद उसने कठोर स्वर में कहा, "अपने कपडे पहन लो।"

विस्मय से—"क्यो ?"

"मै तुम्हे आश्रय नही दे सकती—तुम जाओ !"

एक क्षण के अश भर के लिए युवक अप्रतिभ हो गया, किन्तु फिर बोला, "आप की जो आज्ञा।"

वह चुपचाप कोट मे रिवाल्वर लपेटने लगा।

सुखदा ने कहा, "इसे पहन क्यो नही लेते ?"

"वर्षा हो रही है, रिवाल्वर भीग जायगा।"

"हूँ।"

एक क्षण चुप। फिर युवक ने पूछा, "सड़क किधर मिलेगी, यह बता दें।"

"यहाँ से बाये हाथ चलते जाना। थोडी दूर जा कर एक-दो खाली खेत

आयेगे, वहाँ से फिर बाये मुड जाना—बस ।"

फिर थोडी देर निस्तब्धता । युवक की पोटली तैयार हो गयी । उसे बगल मे लेकर वह बोला, "अच्छा, अब आज्ञा दे । आपने जो भोजन दिया है, उस के लिए धन्यवाद । और आपने आश्रय देने से पहले जो प्रश्न पूछे, उन्हें तो अब भूल ही जावे—"

"हूँ" से अधिक सुखदा कुछ भी नही कह सकी ।

युवक चल पडा । वह झोपडे के किवाड पर पहुँच गया, पर सुखदा किवाड़ खोलने या बन्द करने को भी आगे नही बढी ।

युवक ने किवाड खोला, और बाहर हो कर उसे पुन. बन्द करने के लिए मुडा । तब, एकाएक सुखदा ने वही से पूछा, "उमा कौन है ?"

युवक चौंक पडा । किवाड को थामे-थामे बोला, "कौन उमा ?"

"उमा, कोई भी उमा ।"

"उमा—थी । मेरी बहिन का नाम था ।" कह कर युवक ने किवाड़ बन्द कर दिया ।

६

सुखदा अब तक मन्त्रमुग्ध-सी खडी थी, अब चौंकी । एकाएक उस के मन मे दो प्रश्न हुए, 'मैने यह क्या पूछा ?' 'मैने उसे क्यों निकाल दिया ?'

अपने शरीर पर से उस का नियन्त्रण मानो एकाएक टूट गया—उस का रेशा-रेशा चौकन्ना हो कर किसी को खोजने लगा—उस के अंग-प्रत्यग में यह अनुभूति हुई कि बाहर गिरती हुई वर्षा की बूँदे दबे स्वर से कह रही है, 'समय बीता जा रहा है—बीता जा रहा है.'

सुखदा कमान की तनी हुई प्रत्यचा की तरह उछल कर किवाड पर पहुँची और उसे खोल कर, आँखे फाड-फाड कर, बाहर के सजीव और चलायमान अन्धकार को चीरकर देखने की चेष्टा करने लगी ..

कही कुछ नही दीख पडा.. सुखदा ने आवाज़ दी—"कहाँ चले गये ?" पर उत्तर नही मिला.. उसने फिर पुकारा, "दिनेश, चले आओ ! लौट आओ, तुम्हें आश्रय मिलेगा !"

उत्तर में वही, वर्षा की बूँदो की अपरिवर्त्त नूतनता...

सुखदा लौट आयी। झोपड़े के मध्य में आकर उस के अन्धे पाँव एका-एक रुक गये, और वह धम् से भूमि पर बैठ गयी...

मैंने उसे क्यो निकाल दिया ? मैंने उसे वापस क्यो बुलाया ?

मैंने उसे पहले ही क्यो भीतर आने दिया ? अब उसने आवाज़ सुनी होगी या नही—

अब लौट कर आ सकता है ?

सुखदा ने देखा, उस के हाथ काँप रहे थे। क्यो, वह स्वय नही सोच सकी। वह एकाएक लज्जित हो गयी, और उठ कर दिये के नीचे, प्रतिमा के आगे, घुटने टेक कर बैठ गयी। प्रतिमा के पास से ही उसने एक छोटा-सा फ्रेम उठाया, और क्षण भर उस मे जड़े हुए फोटो को देखती रही। उस के मुख ने एक पवित्र किन्तु नीरस मुद्रा धारण की, उस की आँखे बन्द हो गयी, वह अस्पष्ट शब्दो में शायद प्रार्थना करने लगी...

आकाश मे से किसी की ध्वनि आयी, "आपने मुझे बुलाया था ?"

सुखदा के हाथ से फ्रेम गिर पडा। उसने उसे जल्दी से उठा कर यथा-स्थान रख दिया। फिर वह धीरे-धीरे किवाड पर गयी और उसे खोल कर एक ओर खडी हो गयी।

दिनेश ने फिर पूछा, "आपने मुझे क्यो बुलाया है ?"

सुखदा ने धीरे से कहा, "आप रात भर यहाँ ठहर सकते हैं।"

युवक सहसा अन्दर नही आया। बोला, "नही, आप आवेश में आ कर कोई ऐसा काम न करें, जिसे करने के बाद आप की अन्तरात्मा आप को कोसे। मै तो—"

"आप चले आइये, मै सोच चुकी।"

युवक अन्दर चला आया। सुखदा ने किवाड बन्द किया, फिर एक कोने की ओर जा कर, बिस्तर बिछाते हुए बोली, "आप थके हुए होगे, सो जाइये।"

बिस्तर बिछा कर, एक बार झोपडे के चारो ओर दृष्टि डाल कर वह पिछले छप्पर की ओर जाने लगी।

युवक अब तक चुपचाप खडा था। उसे जाती देख कर बोला, "और आप ?"

"मै भी सो जाऊँगी, छप्पर मे बहुत स्थान है।"

"नही, यह नही हो सकता। मै छप्पर मे चला जाता हूँ।"

"नही, आप अतिथि है; ऐसा नही हो सकता।"

"मै शरणागत हूँ। आप मेरे लिए इतना कष्ट न करे।"

"आप मेरे अतिथि है, और आप को मेरे प्रबन्ध मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए।"

युवक धीमे स्वर मे, कुछ डरते-डरते बोला, "आप मुझे विवश न करे, नही तो मै आप का आतिथ्य स्वीकार नही कर सकूँगा।"

सुखदा क्षण भर चुप रह गयी। फिर उसने कहा—"जैसी आप की इच्छा।" और दो-तीन कम्बल इत्यादि निकाल कर युवक को दे दिये। युवक उन्हे लेकर छप्पर मे चला गया।

सुखदा धीरे-धीरे उस झोपडे मे टहलने लगी। थोड़ी ही देर बाद उसने सुना, युवक बिल्कुल निश्चिन्त और नि स्वप्न नीद की नियमित साँसें ले रहा है। तब वह छप्पर से कुछ हट कर झोपडे के दूसरी ओर जा कर टहलने लगी। ज्यो-ज्यो रात बढती जाती थी, त्यों-त्यो उस की टहलने की गति अधिक तीव्र होती जा रही थी

वर्षा कुछ देर के लिए बन्द हो गयी थी, इस लिए सुखदा बहुत दबे-पाँव चल रही थी, ताकि दिनेश की नीद न भग होने पावे

७

उस के भीतर एकाएक ही कुछ जाग उठा—या कुछ टूट गया। जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति के ऊपर ठडा पानी पडने से उस का खुमार एकाएक टूट जाता है—या उस की साधारण चेतना जाग उठती है। उसे मालूम हुआ, अब तक वह जो कुछ कर रही थी, एक नशे में कर रही थी ..बाह्य वस्तुओं की अनुभूति उसे होती थी पर नहीं होती थी। इन्द्रियाँ अपना काम करती थी, किन्तु मस्तिष्क उनकी भाषा को कुछ काल के लिए भूल गया था—या समझता ही

नही था—और दिनेश के सो जाने के कुछ क्षण बाद ही उसने जाग कर अपने सामान्य कर्म आरम्भ कर दिये थे—अब वह एक अपूर्व चेतना से धधक उठा था...

उस के मन मे रौरव मचा हुआ था .प्रश्नो का तूफान इतने जोरो से उठा हुआ था कि वह एक प्रश्न को दूसरे से अलग भी नही कर पाती थी । मानो उस का समूचा मस्तिष्क विद्रोही हो गया हो, और हजारो नयी माँगे उपस्थित कर रहा हो—माँगे जो एक दूसरे से मिल कर एक विराट् कोहराम हो गयी थी—एक उद्दीप्त ललकार का रूप ले कर पूछ रही थी—'तू ने क्या किया ?'

सुखदा इस रौरव से घबरा उठी । उसने दिये की बत्ती को सरका कर तेज़ कर दिया और फिर प्रार्थना करने बैठ गयी ।

'ईश्वर, मुझे शान्ति दे ! मेरे मन मे जो रौरव मचा हुआ है, इस का शमन कर दे, ताकि मै जान पाऊँ कि मै क्या चाहती हूँ । मुझे सद्‍बुद्धि दे...

'मैने अच्छा किया या बुरा, मै नही जानती—इसमे ससार का लाभ है या हानि, मुझे नही मालूम .पर मै यह भी नही जानती कि मैने अपनी आत्मा से विश्वासघात किया है या नही—यही मुझे बता दे ! यदि मैने किसी मोह मे पड कर, जान-बूझ कर बुरा किया है, तो मुझे दड दे, मुझे उस से शान्ति मिलेगी... यदि मैने ऐसा नही किया, तो भी कह दे—मुझे शान्ति मिलेगी .

'ईश्वर ! इस अनिश्चय को दूर कर दे —क्षण-भर, एक अत्यन्त छोटे क्षण-भर के लिए प्रकट होकर मेरी प्रार्थना का उत्तर दे दे !'

पर कहाँ ? यदि ईश्वर प्रत्येक प्रार्थना की अत्यन्त सूक्ष्मकाल में ही पूर्त्ति कर डाले, तो कुछ ही दिनो में उन का अस्तित्त्व ही मिट जाय ! उन का अस्तित्त्व ही इस बात पर निर्भर करता है कि आकाक्षा के समय कुछ न मिले, उपभोग के समय दारिद्रय हो, विरक्ति मे लोभ हो, कि वे याचना के समय दीवालिया और समृद्धि के समय दयालु हो...

जब उस मूर्त्तिमती प्रतीक्षा की काफी उपेक्षा कर के भगवान् अपनी सर्व-शक्तिमत्ता दिखा चुके, तब सुखदा चुप हो गयी और कुछ सोचने लगी...किन्तु प्रार्थना में वह जिस प्रकार अपने भावो का उच्चारण कर रही थी, उसी प्रकार

अब भी करती रही।

'प्रपीडित को क्या आश्रय न दिया जाय ? पर वह तो हत्या भी कर सकता है ! आत्मरक्षा क्या हत्या है ? पर और भी तो ससार बसता है, उन की भी तो आत्मरक्षा होती है। अत्याचार का विरोध नही करना चाहिए ? पर अत्याचार का विरोध अत्याचार से नही होता।

'इसका निश्चय मै नही कर सकूँगी—बडे-बडे नही कर सके ..

'मैने पहले उसे निकाल दिया था। वह मुझ से आश्रय माँगता था, पर उसे मेरे जीवन की कद्र नही ? कहता था, स्त्री पर हाथ नही उठाऊँगा—कहता था कि उस के भी आदर्श है. पर अगर मै उस का विरोध करती, तो शायद मुझे मार डालता !

'मैने क्या डर कर आश्रय दिया ? मैने उसे निकाल दिया था, फिर बुलाया।

'क्यो ?'

'उमा कैसी थी, उस के बारे मे कल पूछूंगी। उसे कितना याद करता होगा ?

'कहता था, मेरी बहिन थी। अगर बहिन न हो तो ? अगर—'

इस से आगे वह नही सोच सकी, एकाएक उठ खडी हुई। अगर क्या ? अगर उमा उस की प्रेमिका रही हो ! सुखदा को यह विचार असह्य प्रतीत हुआ। वह तीव्र गति से इधर-उधर टहलने लगी...यह कभी नही हो सकता—उस की प्रेमिका नही हो सकती ! नही हो सकती—वह ऐसा नही हो सकता !

सुखदा इस विचार को मन से हटा नही सकी, न स्वीकार ही कर सकी ! वह उन्मत्त की भाँति चलती रही, इधर से उधर, उधर से इधर, किन्तु पाँव दबी चाँप से पड रहे थे

उसका मुँह लाल हो आया—फिर पीला पड गया। वह खडी हो गयी। प्रतिमा के पास पडा हुआ फ्रेम उठा कर वह उस की ओर देखने लगी और बोली, "क्या मै पापिनी हूँ ? मैने अपना व्रत तोडा है ? तुम्हारे प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गयी हूँ ? नही तो क्यो मुझे वह विचार असह्य होता—असह्य है ?

••

"पर अगर तुम हत्यारे होते और मैं तुम से घृणा करती होती, तो क्या मैं तुम्हे निकाल देती ?"

किसी तिरस्कार-भरी हँसती आवाज ने उस के कानो में कहा, 'तो दिनेश क्या तेरा पति है ?'

फिर वही आरक्त मुद्रा, वही उन्मत्त चाल, इधर से उधर, उधर से इधर..

उस के रक्त मे विद्रोह जाग रहा था। यह कैसा अत्याचार है—कैसे बन्धन ? वह क्या मेरा बन्धु नही ? वह क्या मानव नही ? अगर मै विधवा हो गयी हूँ, समाज ने मुझे जूठन की तरह अलग फेक दिया है, तो मै समाज के एहसान से मुक्त हूँ ! मै अपना कर्त्तव्य जो समझूँगी, करूँगी !

और पति ?

इस मे क्या अनौचित्य है ? अगर उसे आश्रय देना मेरा धर्म था, तो वैधव्य उस में क्यो बाधक हो—पति भी क्यो हो ?

फिर वही तिरस्कार की हँसी—वही उन्मादक प्रश्न—'तू उस से प्रेम करती है ?'

सुखदा ने चित्र वही रख दिया, हाथ से बत्ती दबा कर दीपक बुझा दिया, और फिर बडी तीव्र गति से टहलने लगी...उस के पैरो की दबी हुई चाँप में भी एक ललकार थी—अपने को, या मानवता को, न जाने...

यही है मानवता का जीवन—यह अन्धकार मे अशान्ति, उन्माद में जलन, विश्वास मे अनिश्चय, सम्पन्नता में विद्रोह, रात्रि की प्रशान्त गति मे यह अपूर्त्ति और ललकार

८

ादल फट रहे थे। रात बीत चुकी थी।

अभी उषा के प्रकाश का भास भी नही होता था, किन्तु मानो अन्धकार का रंग बदल गया था।

सुखदा थक गयी थी। उस के उन्माद की पराकाष्ठा धीरे-धीरे ढीली पड़ कर बहुत उतर आयी थी।

वह झोपडे के किवाड़ खोल कर देहरी पर बैठ गयी और बाहर देखने लगी।

दूर पर जमुना के विशाल वक्ष का कुछ अश दीख रहा था। उस का जल पहले-सा क्षीण 'सर-सर-सर' छोड अब खेतों को नाँघता हुआ एक दर्प-भरा 'झूल-झूल-झूल' गुर्राता हुआ चला जा रहा था ..उस से कुछ इधर दो वृक्षों के आकार कुछ स्पष्ट-से नजर आते थे, जिन की ओर सुखदा देख रही थी। इन्हीं में से एक वह पगोडा वृक्ष था, जिस के नीचे उसने इतनी बार अपने हृदय की परीक्षा ली थी...

सुखदा को एकाएक ऐसा ज्ञात हुआ, उस वृक्ष के नीचे कोई खडा है। वह ध्यान से उस की ओर देखने लगी, उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई अपनी आँखों पर हथेली की आड दिये, दूर कही देखने का प्रयत्न कर रहा था पर, देर तक देखने पर भी जब वह आकार हिला-डुला नही, तब सुखदा की दृष्टि उस पर से हट कर बहुत दूर पर जगमगाती हुई जमुना के पुल की लैम्पो की ओर गयी .. उस पर कई-एक लैम्पें चलती हुई नज़र आ रही थी—देहली से मेरठ को ओर। सुखदा ने सोचा, 'ये मोटरे होगी,' और फिर उन्हे भूल गयी। वह फिर उस वृक्ष की ओर देखने लगी—पर अब वह आकार, जिस की ओर उस का ध्यान पहले आकृष्ट हुआ था, वहाँ नही था।

न जाने क्यों, सुखदा का ध्यान एकाएक फिर दिनेश की ओर गया। उस की आन्तरिक अशान्ति, जो कुछ क्षीण हो पडी [illegible] उठी—वही प्रश्न फिर उस के मन में नाचने लगा—'मैंने क्या किया . मुझे क्या हो गया...'

वह उठ कर अन्दर गयी। दबे-पाँव छप्पर के पास जा कर उसने देखा, वहाँ खाली कम्बल पडे थे—दिनेश नही था!

उस का हृदय धक् से हो कर रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा, उस के मस्तिष्क पर फालिज पड गया है ..उस की आन्तरिक अशान्ति भी मानो स्तिमित हो गयी...

पता नही कैसे, वह छप्पर से कुछ दूर तक चल कर आयी, और खूँटी से सारंगी और गज़ ले कर फिर पूर्ववत् देहरी पर आ बैठी। उस का शरीर क्या

कर रहा है, यह वह स्वय नही जानती थी..

उस की उँगलियाँ गज़ को इधर-उधर चलाने लगी, तारो से दो-चार टूटे से, अनमिल स्वर निकलने लगे [illegible] का प्रकार बदलता गया—और थोडी देर बाद वे एक प्रकार [illegible]—एक सगीत जिसमे उत्कठा और रोना मिले हुए थे, जिस मे एक विराट् भव्यता के साथ ही एक भयकर निरर्थकता फूटी पडती थी .वैसे ही जैसे किसी सम्पूर्ण जीवनी मे सब कुछ रहने दिया गया हो, केवल एक उद्देश्य निकाल दिया गया हो...

थोडी देर बाद नदी मे कही एक 'छडाप् !' शब्द हुआ, किन्तु सुखदा ने उसे सुन कर भी नही सुना। इस शब्द का कुछ अर्थ हो सकता है, यह विचार उस के स्तिमित मन पर नही उदित हुआ। वह उस समय अपने ही सगीत की निरर्थकता मे बही जा रही थी .

उस का मन जागा तब, जब उसने सामने से बहुत-से बूटो की चॉप सुनी, और आँख उठा कर देखा कि कई एक सशस्त्र पुलिस के सिपाही और अफसर उस की ओर बढे चले आ रहे हैं।

एक हाथ मे सारगी और दूसरे मे गज़ लिये वह धीरे-धीरे उठ कर खडी हो गयी।

एक सिपाही ने उस के मुख पर टार्च का तीक्ष्ण प्रकाश डालते हुए कड़क कर पूछा, "कौन है तू ? क्या नाम है ?"

सुखदा ने शान्त भाव से कहा, "मेरा नाम सुखदा है।"

"तेरे घर मे और कौन है ?"

"मै अकेली हूँ।"

सिपाही घर मे घुस आये, सुखदा किवाड के एक तरफ खडी रही। सिपाहियों ने क्षण भर मे झोपडे को देख डाला, और छप्पर मे घुसे। घुसते ही एक ने पूछा, "यहाँ कौन सोया था ?"

"मै सोती हूँ।"

"और उस मे कौन सोता है, तेरा खसम ?" सिपाही ने झोंपडे वाले बिस्तर की ओर इगित कर के पूछा।

"वहाँ कोई नही सोता है, मैं विधवा हूँ।"

उस के इस शान्त उत्तर को सुन कर यदि सिपाही कुछ लज्जित हुआ, तो उसने इसे प्रकट नही होने दिया।

इसी समय दो अंग्रेज़ अफसर भी आ पहुँचे। सिपाही दोनों ओर हट कर खडे हो गये। अफसर ने पूछा, "तलाशी ली ?"

"जी हाँ, कुछ नही मिला।"

"अच्छा, तुम लोग बाहर रहो, हम इससे बात करेंगे।"

सिपाही बाहर चले गये, सुखदा चित्रवत् खडी रही। जब सब सिपाही बाहर हो चुके, तब अफसर सुखदा के सामने खडा हो कर बोला, "तुम जानता है, तुम को कितना सजा मिल सकता है ?"

"मैंने क्या किया है ?"

"तुमने एक मफरूर आदमी का मदद किया है। तुम्हारे पास इधर रात को सूर्य्यकान्त नाम ना एक डाकू और खूनी आदमी रहा है—जिस को पकडाने का पाँच हज़ार रुपया इनाम है।"

"आप भूलते है। यहाँ कोई नही आया। मैंने इस नाम को सुना भी नही।" कहते हुए सुखदा सोच रही थी, "तो उस का असली नाम सूर्य्य-कान्त था।"

"हूँ। सब मालूम पड जायगा।"

अब दूसरा अफसर बोला, "देखो, हम को सब पता लग गया है। हम को जमुना मे उस का लाश मिला है—वह पार जाने को था, डूब गया। तुम्हारे घर के बाहर उस के पैर का निशान भी है। तुम सच बता देगा तो छूट सकता है, नही तो..."

सुखदा का हृदय धडकने लगा। उस की लाश ! तो वह वापस भी तैर कर ही गया—क्यो ? सुखदा को एकाएक याद आया, उसने वह 'छड़ाप् !' का शब्द सुना था...उस समय पुल पर से मोटरें चली आ रही थी—ऐसे समय में...

इस पीड़ा में, इस धड़कन मे, एक विचित्र शान्ति थी...वह रात भर की

कसक, वह जलन और अशान्ति, और उन से उत्पन्न हुए भूतकाल के दृश्य, सब एक साथ ही बुझ गये, उसे ऐसा मालूम हुआ, सैकडो वर्षों की थकान के बाद उसे शय्या पर लेट जाने का सोभाग्य प्राप्त हुआ हो...

उसे चुप देख कर पुलिस अफसरो ने समझा, उस पर कुछ प्रभाव पड़ा है। उन्होने कहा, "हाँ, जल्दी कहो, जो कुछ कहना है। हम पूरा कोशिश करेगा कि तुम छूट जाओ।"

सुखदा ने दृढ स्वर मे कहा, "मुझे कुछ नही कहना है। मैंने सूर्य्यकान्त का कभी नाम भी नही सुना है।"

अफसर ने कुछ क्रुद्ध हो कर कहा, "अच्छा, तुम गिरफ्तार है।" फिर उसने आवाज दी, "सिपाही!"

दो सिपाही अन्दर आये। अफसर ने कहा, "इस को गिरफ्तार कर के ले चलो।"

"अच्छा, हजूर," कह कर सिपाही आगे बढे।

सुखदा ने कहा, "मुझे तैयार होने के लिए पाँच मिनट का समय दीजिये।"

अफसरो ने आपस मे इशारा किया, फिर एक बोला, "अच्छा, हम दो मिनट दे सकता है।"

सिपाही रुक गया।

सुखदा ने कहा, "आप बाहर जावे।"

अफसरो ने घूर कर उस की ओर देखा, पर फिर बाहर जाते-जाते बोले, "दो मिनट से ज्यादा नही मिलेगा, जल्दी करो।"

सुखदा ने किवाड बन्द कर लिया। छप्पर से एक लोटा पानी ले कर उसने मुँह धोया, फिर एक चादर निकाल कर कन्धो पर डाल ली। एक बार धीरे-धीरे दृष्टि फिरा कर उसने सारे झोपडे को देख डाला। इन सब का अब कौन रखवाला होगा?

वह उस आले के पास गयी, जिस में प्रतिमा रखी थी, और वहाँ से उसने अपने पति का चित्र उठाया। उसे फ्रेम मे से निकाल कर क्षण भर देखती रही, फिर धीरे-धीरे उसे फाड़ने लगी...दो, चार, आठ...सैकड़ो टुकडे कर के

उसे प्रतिमा के पास ही रख दिया।

फिर उसने लकडी के बक्स पर पडी किताबों मे से दो-तीन चुन कर धोती के छोर मे लपेट ली।

क्षण-भर वह झोंपडे के मध्य में . ˜ ˜ - ˜ ॄ ।

और क्या करना है ? एक बार फिर उसने चारो ओर दृष्टि दौड़ा कर देख लिया—यह उस की विदा थी।

उस की दृष्टि चोकी पर जा कर रुकी। रात की बुझी हुई अगीठी उस के सामने पडी थी।

सुखदा को याद आया, उस के पास कुल दो मिनट का समय था। वह क्षण भर अनिश्चित खडी रही, फिर एकाएक प्रार्थना के लिए झुक गयी। अपने देवता के आगे नही, अपने पति के फटे हुए चित्र के आगे नही, किन्तु उस चौकी के आगे, जिस पर दिनेश—या सूर्य्यकान्त—बैठे-बैठे सो गया था। उसने घुटने जमीन पर टेक दिये और सिर को धीरे से चौकी पर नवा दिया..

उस अपने जीवन के अपूर्व एक मिनट मे उसने किस से क्या प्रार्थना की, कौन जाने .किन्तु जब वह उठी, तब मानो उस के प्राणो का तूफ़ान बैठ गया था...उस की आत्मा के सभी सस्कार, अच्छे या बुरे, नये या पुराने, एक पुरानी केंचुल की तरह झड गये थे, वह निरावरण हो गयी थी ..सुखदा के मुख पर एक शान्ति थी—उस शान्ति मे वैराग्य की, त्याग की भावना स्पष्ट थी; किन्तु वह त्याग वैधव्य की भाँति मलिन या उद्विग्न नही था..

१०

किन्तु जब वह किवाड खोल कर वापस आयी, तब एकाएक उस के हृदय पर मानो कोई दैवी प्रकाश छा गया.. उसे किसी दिव्यज्ञान की एक रेखा ने कहा, 'ये झूठे है !'

सूर्य्यकान्त मरा नही, वह मर सकता ही नही था...यह विचार भी असम्भव था—असम्भावना से भी अधिक असम्भव..

वह ज्ञान-रेखा कह रही थी, 'ये झूठे है ! वह नही मरा ! तुम्हारे कर्म की सफाई के लिए यह आवश्यक नही है कि उस की मृत्यु हो गयी हो !'

सुखदा इस ज्ञान के प्रकाश के आगे यह सोच ही नहीं सकी कि उसे कैसे पुलिस के कथन पर विश्वास हो गया—चाहे क्षण भर के लिए ही ...जब उसे याद आया कि यह समाचार सुन कर ही उस की [illegible] के साथ-साथ शान्ति का अनुभव हुआ था, तब उस का हृदय लज्जा से भर गया...

वह धीरे-धीरे झोपडे के सामने वाले पगोडा वृक्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। पुलिस वाले उसे बाहर आया देख कर इकट्ठे हो रहे थे। वह उन की उपेक्षा करती हुई, वृक्ष की ओर देखती हुई चल रही थी।

वह रुकी। एकाएक उस का हृदय एक अदम्य सुख से, एक ज्वलन्त उल्लास से, भर आया।

यही जीवन का चरम उद्देश्य है—सृष्टि का चरम साफल्य, अनुभूति का अन्तिम विकास—सुख की अन्तिम पराकाष्ठा.. पीडा का, उत्कट पीडा का ज्ञान—ऐसी पीडा का, जो कि स्वयं अपनी इच्छा से, अपने हाथों, स्वागत की भावना से, अपने ऊपर ली गयी है.. यह आत्म-निछावर की चेतना...

सुखदा को ऐसा प्रतीत हुआ, उस का वर्षों का वैधव्य, और उस से पूर्व की जीवित मृत्यु, आज एकाएक अपनी सीमा पर पहुँच गये हैं—समाप्त हो गये हैं, और वह आज एक नयी स्त्री, एक नयी शक्ति हो गयी है

उसने एक बार अपने छोटे-से बागीचे के चारो ओर दृष्टि दौडायी। वह जमुना के विशाल वक्ष को छूती हुई फिर उसी पगोडा वृक्ष पर आ कर रुक गयी। क्षण भर सुखदा स्थिर दृष्टि से उस की ओर देखती रही, उस के मुख पर एक शान्त स्निग्ध हँसी छा गयी..

फिर उसने कहा, "चलो।" और विस्मित सिपाहियो के आगे अभिमान-भरी मुद्रा से चल पडी।

रात-रात मे पगोडा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी—या नये वस्त्र धारण कर लिये थे। आज उस की कालिमा का चिन्ह भी कही नज़र नहीं आता था, वह फूलो से भरा हुआ, सौन्दर्य से आवृत, सौरभ से झूम रहा था।

उस समय ऊषा का प्रकाश नभ में फूट रहा था।

अक्तूबर, १९३३